केनोपनिषद्

[भूमिका, शाङ्करभाष्य, मन्त्रानुवाद, व्याख्या तथा टिप्पणियों सहित]

एवं

वैदिक उद्धरण

[संस्कृतभाष्य, अनुवाद, टिप्पणियों सहित]

अनुवादक एवं व्याख्याकार

डॉ० सुमन शर्मा

सम्पादक :

डॉ० कृष्ण लाल

उपाचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली

केनोपनिषद्

[भूमिका, शाङ्करभाष्य, मन्त्रानुवाद, व्याख्या तथा टिप्पणियों सहित]

एवं

वैदिक उद्धरण

[संस्कृतभाष्य, अनुवाद, टिप्पणियों सहित]

अनुवादक एवं व्याख्याकार
डॉ० सुमन शर्मा

सम्पादक :
डॉ० कृष्ण लाल
उपाचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली

५/१६ विजय नगर (डबल स्टोरी), दिल्ली-११०००६

प्रथम संस्करण : जुलाई १६७७

मूल्य : रु० ६.००

मुद्रक :—

अमर प्रिंटिंग प्रेस, (शाम प्रिंटिंग एजेन्सी)

८/२५ विजय नगर (डबल स्टोरी), दिल्ली ११०००६

प्राक्कथन

विश्व के समस्त मानव समाज को नव चेतना देकर आत्यन्तिक शान्ति प्रदान करने का श्रेय उपनिषदों को है। उपनिषदों का प्रादुर्भाव वेद के अत्युच्च शीर्षस्थानीय भाग से हुआ है जिन्हें प्रायः वेदान्त, ब्रह्म-विद्या या आम्नाय-मस्तक कहते हैं। वस्तुतः उपनिषद् ही ब्रह्म-विद्या के आदि स्रोत हैं। उनसे निकलकर ही विविध वाङ्मय के रूप में विकसित हुई ज्ञान गङ्गा जीवों के पाप-ताप का शमन करती है।

'केनोपनिषद्' सभी उपनिषदों में आकार की दृष्टि से लघुकलेवर लिए हुए है किन्तु उसमें निहित ज्ञान अत्यन्त गूढ़ तथा उत्कृष्ट है। इस गूढ़ ज्ञान को समझने के लिये अनेक उपलब्ध भाष्यों का अध्ययन किया गया है तथा जहाँ कहीं भी ग्रहण करने योग्य सामग्री उपलब्ध हुई हैं उसे ग्रहण किया गया है।

केनोपनिषद् का तात्त्विक अर्थ तथा सारांश इसके नाम में ही निहित है। 'केन' का अर्थ है 'किसके द्वारा' अर्थात् जड़-रूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी आदि कर्मेन्द्रियां तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ किसकी शक्ति से क्रियाशील होकर कार्य में प्रवृत्त होती हैं, कौन इनमें कार्य की योग्यता प्रदान करता हैं और परम कर्त्ता कौन है? सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा तथा अति सूक्ष्म अहपूर्ण कर्तृत्व भाव को मिटाने के कारण ही इस उपनिषद् का नाम 'केन' रखा गया है।

प्रस्तुत 'केनोपनिषद् एवं वैदिक उद्धरण' पुस्तक में केनोपनिषद् के साथ-साथ दिल्ली विश्वविद्यालय तथा अन्य विश्वविद्यालयों के बी० ए० के पाठ्य क्रम में निर्धारित वैदिक उद्धरणों का भी समावेश किया गया हैं जिससे कि छात्रों को वेद-विषयक सम्पूर्ण सामग्री एक ही स्थान पर सुलभ हो। सर्वप्रथम केनोपनिषत् के महत्त्व, शिक्षाएं तथा दर्शन के अतिरिक्त पात्रों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् सब मन्त्रों का मूलपाठ, शांकर भाष्य, अन्वयानुसारी हिन्दी पदार्थ व्याख्या व्याकरण विषयक तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियां

देकर इसे सब दृष्टियों से सुबोध बनाने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार 'वैदिक उद्धरण के ऋग्वेद, यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीयोपनिषद् के भाग में भी सायण-भाष्य, अन्वयार्थ तथा व्याख्या आदि प्रस्तुत किए गए हैं।

आचार्य शंकर, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पं० यमुनाप्रसाद त्रिपाठी, सुधीर कुमार गुप्त, डा० रामचन्द्र वर्मा तथा अन्यान्य विद्वानों के प्रति उनके ग्रन्थों से प्राप्त सहायता के लिये एवं कल्याण के उपनिषद् अंक के लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझती हूँ।

डा० सत्यव्रत शास्त्री (आचार्य संस्कृत-विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय) की अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनकी शुभकामनाएं एवं सहयोग मुझे सदैव प्राप्त होते रहे हैं।

अपनी इस प्रथम कृति के प्रकाशन के अवसर पर मैं डा० रसिक विहारी जोशी (अध्यक्ष, सस्कृत दिल्ली विश्वविद्यालय) को प्रणामांञ्जलि प्रस्तुत करती हूँ जो विद्यार्थियों को सदैव प्रोत्साहित करते रहे हैं।

अपने शोध निर्देशक श्रद्धेय डा० कृष्ण लाल (उपाचार्य, संस्कृत-विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय) की अत्यन्त आभारी हूँ जो कोई ठोस कार्य करने के लिये मुझे सतत प्रोत्साहित तो करते ही रहते हैं, अपने सुयोग्य निर्देशन से मुझे कभी वंचित नहीं रखते। उनकी प्रेरणा स्वरूप ही इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हुआ है।

अपनी इस प्रथम कृति के प्रकाशन के शुभावसर पर पूज्य पिता डॉ० बनवारी लाल शर्मा, पूज्या माता श्रीमती शारदा शर्मा तथा ज्येष्ठ भ्राता श्री गोपाल शर्मा का सम्मानपूर्वक स्मरण करती हूँ जिन्होंने मुझमें सदैव आत्मविश्वास उत्पन्न किया है।

मैं इस पुस्तक के प्रकाशक ईस्टर्न बुक लिंकर्स के स्वामी श्री शामलाल मल्होत्रा को अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने पुस्तक का प्रकाशन इतनी शीघ्रता के साथ करके अपनी कर्मठता का परिचय दिया है।

अन्त में मेरा पाठकों से विनम्र निवेदन है कि वे मेरी त्रुटियों से अवगत कराने की कृपा करें।

सुमन शर्मा

भूमिका

उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है। यह वह चिरप्रदीप्त ज्ञानदीपक है जो सभ्यता के आदि काल से प्रकाश देता चला आ रहा है और लयपर्यन्त पूर्व-वत् प्रकाशित रहेगा। वेद का अन्तिम अध्यायरूप उपनिषद्, ज्ञान का आदि-स्रोत और विद्या का अक्षय्य भण्डार है। वेद-विद्या के चरम सिद्धान्त **एकमेवा-द्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन** का प्रतिपादन कर उपनिषद् जीव को अल्प-ज्ञान की ओर, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्य से अनन्त सत्ता और अनन्त शक्ति की ओर, जगद् दुःखों से अनन्तानन्द की ओर और जन्म-मृत्यु बन्धन से अनन्त स्वातन्त्र्यमय शाश्वती शान्ति की ओर ले जाती है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उपनिषद् स्त्रीलिङ्ग शब्द को लेकर प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने अपनी-अपनी मान्यताएं स्थापित की हैं। प्रसिद्ध कोशकार श्री वा० शि० आप्टे ने अपने कोशग्रन्थ में लिखा है कि इसकी व्युत्पत्ति उप (समीप) + नि + √सद् (बैठना) से हुई है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपनिषद् वह ज्ञान है जो गुरु के चरणों में बैठकर प्राप्त किया जाता है। आचार्य शंकर का **'उपनिषद्'** के सम्बन्ध में कथन है कि "आत्मविस्मृति पूर्वक श्रद्धा और भक्ति के साथ जो लोग ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, उनके गर्भवास, जन्म-मरण, जरा, रोग आदि अनर्थों का जो नाश करती है और ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त कराती हुई संसार-कारणभूत अविद्या को समूल नष्ट करती है, वह उपनिषद् है,* अमरकोशकार उपनिषद् शब्द का अर्थ **धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्** लिखते हैं जिसके अनुसार **'उपनिषद्'** शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

---

* उप + नि + √षद् (षद् विशरणगत्यवसादनेषु—पाणिनि धातुपाठ)

उपनिषत्साहित्य और वैदिक संहिताएँ

प्राचीन उपनिषदों का वैदिक संहिताओं से सम्बन्ध इस प्रकार है—

उपनिषद्	वैदिक संहिता
ऐतरेय कौषीतकी छान्दोग्य	ऋग्वेद
केन=तलवकार=ब्राह्मण	सामवेद
तैत्तिरीय मैत्रायणी कठ श्वेताश्वतर	यजुर्वेद कृष्ण
ईशावास्य बृहदारण्यक	यजुर्वेद शुक्ल
प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य	

उपनिषत्तत्त्वोपदेश के जीव-ब्रह्मैक्य का प्रतिपादन करते हुए पूर्वाचार्यों ने संक्षेप में कह दिया—"**जीवो ब्रह्मैव नापरः**" जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से पृथक् नहीं है। जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान निष्ठा की यह चरम सीमा ही औपनिषद् ज्ञान की पराकाष्ठा है। उपनिषद् का उपदेश है "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" यह समस्त वास्तव में ब्रह्म है। यही उपनिषद् के तत्त्व ज्ञानोपदेश का सांराश है। इसमें निष्ठा न होना ही अज्ञान है। जीव ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी अविद्या के कारण अपने वास्तविक अजन्मा, अविनाशी आत्मस्वरूप को विस्मृत कर स्वयं को जन्ममरणधर्मा, कर्त्ता, भोक्ता इत्यादि मान बैठता है। इस प्रकार मिथ्या जगत् में ही स्वनिर्मित कर्मों में बंधकर जन्म-मरण के चक्कर में फंसकर अनन्त दुःख भोगता है। अविद्या की निवृत्ति के लिये उपनिषदों में जीव-ब्रह्म की एकता (**योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि**) के प्रतिपादन के साथ-साथ जगत् के मिथ्यात्व का भी उपदेश दिया गया है—"**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** अर्थात् एक ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। दृश्यमान जगत् परमार्थ सत्य नहीं है। सपने में देखे गये पदार्थ की तरह मिथ्या है।

य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भ-जन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयति अविद्यादिसंसार-

कारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत्। उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थ-स्मरणात्। इति मुण्डक० प्रस्तावना १।१।१

उपनिषत्साहित्य का विषय-विवेचन

भारतीय विचार परम्परा में उपनिषदों के द्वारा एक नये युग का सूत्र-पात हुआ। वेदों में कर्म और ज्ञान दोनों धाराओं का समन्वय है। वेदों की कर्मभावना को लेकर ब्राह्मणों, आरण्यकों की रचना हुई और ज्ञानभावना को लेकर उपनिषदों की। उपनिषदों से चिन्तन और अन्वेषण के युग का आरम्भ हुआ।

यद्यपि संहिताएं ही उपनिषदों का स्रोत रही हैं, फिर भी जीवन की शाश्वत मान्यताओं के प्रति दोनों में पृथक्-पृथक् प्रकार से विचार किया गया है। यदि इस दृष्टि में संहिताओं का अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होता है कि आत्मा, पुनर्जन्म, कर्मफल जैसे विषयों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता वैदिक ऋषियों ने नहीं समझी। वेदों में आत्मा और शरीर की पृथक्ता का विचार अवश्य है किन्तु आत्मा की नित्यता का विशुद्ध मौलिक चिन्तन उनमें नहीं है। आत्मतत्त्व की खोज और उसकी मीमांसा का विचार उपनिषदों में ही किया है।

औपनिषदिक ज्ञान के महत्त्व से न केवल वैदिक धर्मावलम्बी प्राच्य विद्वान् अवगत हैं, किन्तु अन्य धर्मावलम्बी एवं पाश्चात्य विद्वान् भी इसकी शिक्षा से प्रभावित हुए हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक मैक्समूलर ने उपनिषद् के सम्बन्ध में कहा है कि "उपनिषद् वेदान्त दर्शन का स्रोत है। यह एक ऐसी दर्शन पद्धति है जिसमें मानवीय कल्पना, भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुंची मालूम होती है"। अन्य विद्वान् शोपेनहार का मत है कि "संसार में अध्ययन के लिये ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है जो उपनिषदों के समान लाभप्रद और ऊंचा उठानेवाला हो। वे सर्वोच्च मस्तिष्क की उपज हैं। एक न एक दिन यह समस्त मानवजाति का धर्म होने वाला है।"

उपनिषद्-साहित्य पर्याप्त विशाल है। जहां तक उपनिषदों की संख्या का प्रश्न है वह दो सौ से भी अधिक है। इनमें परवर्ती साम्प्रदायिक उपनिषद् भी

सम्मिलित हैं किन्तु प्रामाणिक और प्राचीन वैदिक उपनिषद् कुल १२ है—ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी, प्रश्न, बृहदारण्यक, छान्दोग्य और श्वेताश्वतर। उपनिषदों की भाषा बहुत ही सरल, रोचक, प्रभावोत्पादक और सप्रवाह है। उनमें ब्राह्मणकालीन भाषा के दोषों का प्रायः अभाव है। वास्तव में भावों की प्राचीनता होते हुए भी वे भाषा की दृष्टि से अर्वाचीन ही हैं। इनमें कुछ गद्य में हैं, कुछ पद्य में और कुछ मिश्रित हैं।

केनोपनिषद्:—प्राचीन उपनिषदों की शृंखला में केनोपनिषद् का महत्त्व भी कम नहीं है। केनोपनिषद् सामवेद के जैमिनीय ब्राह्मण का नवां अध्याय है। "केन" शब्द से आरम्भ होने के कारण इसका नाम केनोपनिषद् प्रचलित हो गया है। जैमिनीय ब्राह्मण के प्रथम आठ अध्यायों में अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म एवं उपासना पर बल दिया गया है और उसके बाद नवम अध्याय अर्थात् केनोपनिषद् में ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

प्रत्येक जिज्ञासु के मन में प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि किसकी प्रेरणा से यह शरीर गतिमान है, इस शरीर का अधिष्ठाता कौन है। इसमें प्रेरक देव कौन है। किन्तु इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक व्यक्ति नहीं दे सकता। उक्त प्रश्नों में, क्यों, किसने, किसके द्वारा आदि शब्द हैं और ये ही भाव 'केन' शब्द से व्यक्त होते हैं। इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही प्रश्न किया गया हैं कि "किसके द्वारा प्रेरित किया हुआ मन अपने अभीष्ट विषय की ओर जाता है और इस प्रश्न के उत्तर के लिये ही यह उपनिषद् है। अतः '**केन उपनिषद्**' नाम निरर्थक नहीं है। यह नाम द्योतित कर रहा है कि प्रत्येक जिज्ञासु के मन में जो प्रश्न उत्पन्न होता है, उसका उत्तर इस उपनिषद् में दिया गया है। अर्थात् इन प्रश्नों में जो भाव है, वही उपनिषद् के '**केन**' शब्द द्वारा प्रकट हो रहा है। इस प्रश्न में ही इस उपनिषद् की दार्शनिक श्रेष्ठता और प्रश्न का उत्तर निहित है। इस प्रश्न का उत्तर-ब्रह्म-दिये जाने पर भी स्थूल इन्द्रियादि का विषय न होने के कारण वह एक शाश्वत प्रश्न बना रहता है और दर्शन शास्त्र युगों से उस प्रश्न को सुलझाने में ही प्रयत्नशील हैं।

केनोपनिषद् का स्रोत

यद्यपि केन की गणना सामवेदीय उपनिषदों में की जाती है तो भी अथर्ववेद से इसका सम्बन्ध है। अथर्ववेद के १०।२ सूक्त को 'केन सूक्त' कहते

है। इस सूक्त का प्रारम्भ 'केन' शब्द से हुआ है। इसी कारण 'केन सूक्त' को केनोपनिषद् का आधार कहते हैं। अथर्ववेदीय केन सूक्त में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक प्रश्नों के द्वारा यह पूछा गया कि मनुष्य के शरीर की रचना किसने की है ? आँख, नाक, आदि इन्द्रियों को किसने बनाया ? प्राणों का संचालक कौन है ? इनकी जन्म मृत्यु कैसे होती है। आध्यात्मिक प्रश्नों के अन्तर्गत ये प्रश्न किए गए है कि मनुष्यों में श्रद्धा भक्ति कैसी होती है ? विद्वान् कैसे प्राप्त होते हैं। दैवी प्रजाओं में दिव्यजन कैसे रहते हैं ? जल, प्रकाश, आदि किसने बनाये ? पर्जन्य और चन्द्रमा का बनाने वाला कौन है ? इत्यादि प्रश्न आधिदैविक प्रश्नों के अन्तर्गत किये गये हैं। और इन सब प्रश्नों का उत्तर केन सूक्त में यही दिया है कि यह सब ब्रह्म का बनाया हुआ है।

आध्यात्मिक ब्रह्म देवान् अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः
ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते
(अथर्व० १०।२।१३)

अधिभौतिक—ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्।
ब्रह्मेममग्नि पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥
(अथर्व० १०।२।२१)

आधिदैविक— ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥
(अथर्व० १०।२।२५)

इसी चर्चा को आगे चलकर 'देवीभागवत पुराण' में द्वादश स्कन्ध के अष्टम अध्याय में उठाया गया है। ९३ पद्यों के इस अध्याय में आर्यों द्वारा गायत्री की उपासना को त्याग कर अन्य देवों शिव, विष्णु, गणपति आदि की उपासना करने की चर्चा की गई है। इसमें दैत्यों के साथ देवों के युद्ध और उसमें देवों की विजय के वर्णन के उपरान्त देवों के गर्व और उस गर्वहरण के लिये गायत्री देवी के यक्षरूप में आविर्भूत होने का वर्णन है। गायत्री देवी के तेज से मोहित देवों ने अग्नि को उसका परिचय पाने के लिये भेजा। अग्नि यक्ष द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत एक तिनके को भी न जला सकी। इन्द्र द्वारा प्रेषित वायु इसी प्रकार एक तिनके को भी न हिला सका। अन्त में इन्द्र स्वयं यक्ष का परिचय प्राप्त करने के लिये आया। किन्तु यक्ष

के लुप्त हो जाने पर निराश हो गया। आत्म-गौरव की हानि अनुभव करके वह उस परम देव की शरण में गया। आकाशवाणी के निर्देश से इन्द्र ने एक लाख वर्ष तक मायाबीज का जाप किया, तब उसे जगन्माता के दर्शन हुए और देवी ने उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर देवी लुप्त हो गई। सभी देवता देवी को ही अपनी विजय का कारण मानकर उसकी आराधना में प्रवृत्त हुए—

ततः सर्वे स्वगर्वं तु विहाय पदपंकजम् ।
सम्यगाराधयामासुर्भगवत्याः परात्परम् ॥

देवीभागवत १२।८।८५

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि केनोपनिषद् में विवेचित विषय भिन्न-भिन्न रूपों में वैदिक युग से पौराणिक युग तक प्रतिपाद्य विषय रहा है। सत्य तो यह है कि आज भी यह विषय अपना विशिष्ट महत्त्व लिये हुए है। जब तक मानव अदृश्य और अज्ञान के प्रति जिज्ञासा भाव रखता रहेगा जिसका कि रहना निश्चित ही है, तब तक उसके लिये इसका उत्तर देने वाले ग्रन्थों का महत्त्व बना रहेगा। मानव मन की जिज्ञासाओं का चिरसत्य, युक्तियुक्त तथा तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत करने वाले 'केनोपनिषद्' का इस रूप में महत्त्व शाश्वत है।

विषय वस्तु

केनोपनिषद् में चार खण्ड हैं, जिनमें से दो पद्यमय हैं तथा अन्तिम दो पूर्णतया गद्यमय हैं। **प्रथम खण्ड** इस जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है कि मन, प्राण, वाक्, आंख, कान आदि इन्द्रियों को उनके अपने-अपने कार्यों में कौन प्रवृत्त करता है। इस प्रेरक तत्त्व को आंख, वाणी, मन नहीं जान सकते हैं। यह ज्ञात और अज्ञात तत्त्वों से परे है। इसे वाणी, मन, आंख, कान और प्राण प्रकाशित नहीं कर सकते हैं। यह ब्रह्म ही इन वाणी आदि को प्रकाशित करता है।

द्वितीय खण्ड में कहा गया है कि मनुष्य को इसी जन्म में इसी लोक में ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये अन्यथा जीवन व्यर्थ है और महान् हानि होती है। उस ब्रह्म का ज्ञान प्रत्येक भूत, प्राणी और वस्तु में गम्भीर चिन्तन से प्राप्त होता है। यह ब्रह्म प्रत्येक ज्ञान में प्रतिष्ठित है। ऐसा जानने से

अमरता प्राप्त होती है। जो व्यक्ति यह समझता है कि वह ब्रह्म को भली प्रकार जानता है क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियज्ञान से परे है. जो यह समझता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ, वही यथार्थ ज्ञानी और ब्रह्मवेत्ता है क्योंकि ब्रह्म तो सदा पूर्ण व्यापक है, वह अज्ञात कैसे हो सकता है ?

तृतीय खण्ड में इस तथ्य को एक आख्यायिका के माध्यम से बताया गया है। ब्रह्म ने देवताओं के लिये आसुरी शक्तियों पर विजय प्राप्त की। देवों ने समझा कि इस विजय को हमने अपनी शक्ति और सामर्थ्य से प्राप्त किया है।

ब्रह्म ने उनके इस भाव को समझ लिया और उनके भ्रम को दूर करने के लिए वह देवताओं के सम्मुख यक्ष के रूप में प्रकट हुआ। देवतागण उस यक्ष को नहीं जान पाये। सर्वप्रथम अग्नि ने यक्ष के स्वरूप का पता लगाने के लिये प्रयत्न किया किन्तु वह विफल लौट आया क्योंकि वह यक्ष के द्वारा रखे गये एक छोटे से तिनके को भी जलाने में समर्थ नहीं था। तत्पश्चात् यक्ष ने वायु को वह तिनका उड़ा ले जाने के लिये कहा, किन्तु वायु भी विफल लौट आया। अन्त में जब इन्द्र स्वयं यक्ष के पास पहुँचा तो यक्ष अदृश्य हो गया। उसके स्थान पर आकाश में हैमवती उमा प्रकट हुई। इन्द्र ने उससे यक्ष का परिचय पूछा।

चतुर्थ खण्ड में उमा इन्द्र को बताती है कि यक्ष साक्षात् ब्रह्म था। उसी की विजय से देवताओं को महिमा प्राप्त हुई है। इस सत्य को जानने के कारण अग्नि वायु और इन्द्र अन्य देवों से श्रेष्ठ हो गए। इन तीनों में भी इन्द्र श्रेष्ठतम हो गया क्योंकि इन्द्र ने ब्रह्म को बहुत समीप से जाना था। इस आख्यायिका की समाप्ति पर कहा गया है कि आधिदैविक प्रकाश बिजली की चमक और आंख की झपक है। उसका अध्यात्म प्रकाश मन की गति संकल्प आदि है। ब्रह्म का नाम 'तद्वनम्' बताया गया है। यह निर्देश है कि उस ब्रह्म की इस रूप में ही उपासना करनी चाहिये। उस ब्रह्म की प्राप्ति के तप, दम, कर्म, वेद, वेदाङ्ग और सत्य आधार हैं। ब्रह्म को जानने वाला पाप आदि से मुक्त होकर उत्तम लोक को प्राप्त कर लेता है।

केनोपनिषद् का दर्शन

इस उपनिषद् का दर्शन ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन और उसकी प्राप्ति

के साधनों का निरूपण करना है। ब्रह्म ही ब्रह्माण्डस्थ समस्त शक्तियों का प्रेरक और संचालक है। वही सब का धारक है। उन समस्त साधनों से बड़ा है। ब्रह्म का ज्ञान आँख, नाक, कान, वाणी, मन आदि इन्द्रियों और अन्य सीमित भौतिक साधनों से सम्भव नहीं है। वह इन वहिर्मुखी इन्द्रियों की पहुँच से परे है।

यद्यपि ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता तथापि वह नितान्त अज्ञेय नहीं है। उसको पूर्ण रूप में जानना सम्भव नहीं है क्योंकि वह अनन्त और अनादि है। तोभी यह जान लेना ही ब्रह्मज्ञान पा लेना है कि वह पूर्णतया अज्ञेय नहीं है। उसका आंशिक ज्ञान सम्भव है। यह तो समझा ही जा सकता है कि ब्रह्म सब क्रियाओं, शक्तियों और ज्ञान का स्रोत है। यह सामान्य ज्ञान आधिदैविक परिभाषा में विजली की चमक और आंख की झपक है और आध्यात्मिक परिभाषा में मन का संकल्प विकल्प है।

केनोपनिषद् की आख्यायिका में अग्नि और वायु इन्द्रियों के प्रतीक हैं और इन्द्र जीवात्मा का। आकाश मनुष्य का हृदय है जहाँ ब्रह्म का ज्ञान होता है और अंगुष्ठ मात्र पुरुष रहता है। यक्ष ब्रह्म है और उमा है विद्या। विद्या से ही ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

ब्रह्म **'तद् वनम्'** एकमात्र ग्रहणयोग्य है। उसको जानने के लिये प्रत्येक ज्ञान में ब्रह्म की सत्ता का गम्भीर चिन्तन नितान्त आवश्यक है। वेदों और वेदाङ्गों के ज्ञान और सत्य से ब्रह्म का ज्ञान प्रवृत्त होता है। अतः ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा अज्ञेय है किन्तु विद्या और चिन्तन से ज्ञेय भी है। अन्य जिस किसी देव की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है। अतः ब्रह्म एक और अद्वितीय है तथा इस ब्रह्म को **तद्वनम्** कहा गया है।

केनोपनिषद् का महत्त्व

उपनिषदों में केनोपनिषद् ही ऐसी उपनिषद् है जिस पर आचार्य शंकर ने **वाक्य-भाष्य** तथा **पद-भाष्य** लिखे हैं। एक ही ग्रन्थ पर एक ही सिद्धान्त की स्थापना करते हुए एक ही भाष्यकार द्वारा दो-दो टीकाएं लिखना प्रायः देखा नहीं जाता। आचार्य शंकर के इस कृत्य का विश्लेषण करते हुए आनन्द गिरि स्वामी कहते हैं कि—

केनेषितमित्यादिकां सामवेदशाखाभेदब्राह्मणोपनिषदं पदशो व्याख्यायापि न तुतोष भगवान् भाष्यकारः शारीरिकैर्न्यायैरनिर्णीतार्थत्वादिति

न्यायप्रधानं श्रुत्यर्थं संग्राहकैर्वाक्यैर्व्याचिख्यासुः अर्थात् केनोपनिषद् की व्याख्या करने के पश्चात् भगवान् भाष्यकार सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि उसमें उसके अर्थ का शारीरिक शास्त्रानुकूल युक्तियों से निर्णय नहीं किया गया था, अतः उन्होंने श्रुत्यर्थनिरूपक न्याय-प्रधान वाक्यों से उसकी व्याख्या प्रारम्भ की। कारण कुछ भी हो, एक ग्रन्थ पर दोबारा भाष्य करना उसके महत्त्व का परिचायक है।

केनोपनिषद् की शिक्षाएं

केनोपनिषद् का उद्देश्य यह स्पष्ट करना जान पड़ता है कि मनुष्य में यह अहंकार बुद्धि कि मैंने यह किया है, कि मैं यह कर सकता हूँ इत्यादि अज्ञान और अहंकार के कारण है। सत्य यह है कि परब्रह्म की प्रेरणा से ही मनुष्य सब कुछ करने में समर्थ है, उसी की इच्छा से सफलता, असफलता, यश, अपयश आदि प्राप्त होता है। इस प्रकार उपनिषद् में अहंकार के दुष्प्रभाव तथा दुष्परिणाम का वर्णन है। यहां स्वीकार किया गया है कि ज्ञान—मद अथवा मिथ्याभिमान मानव के पतन का मूल है। अहंकारवादी के समक्ष प्रकट हुआ ब्रह्म भी विलुप्त हो जाता है। श्रद्धावान् जिज्ञासु ही सौत्सुक्य होने पर ब्रह्म-दर्शन में समर्थ हो सकता है। तप और स्वाध्याय का सतत अभ्यास करने से मनुष्य का चित्त समाहित हो जाता है और तब उसे प्राप्तव्य (ध्येय) हस्तामलकवत् हो जाता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म पलक झपकने की क्रिया भी मनुष्य परब्रह्म की प्रेरणा के बिना नहीं कर सकता, इसी प्रकार जो भी बड़ी से बड़ी शक्ति के कार्य दिखाई देते हैं, वे उसी की प्रेरणा से होते हैं।

पात्र-परिचय

यक्ष—केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में कहा है कि ब्रह्म ने देवताओं के हितार्थ असुरों को पराजित किया। ब्रह्म के किये हुए उस जय-लाभ से देवताओं ने अपने को गौरवान्वित समझा। देवताओं के इस मिथ्याभिमान को चूर्ण करने के लिये वे उनके सामने यक्ष के रूप में प्रकट हुए। देव उन्हें पहचान न सके। सर्वप्रथम देवों ने अग्नि को यक्ष का पता लगाने के लिये भेजा। अग्नि अपनी पूरी शक्ति लगाने पर भी यक्ष द्वारा प्रस्तुत एक तृण को न जला सका। अग्नि के असफल होने पर यह कार्य वायु को सौंपा गया। वायु भी यक्ष द्वारा प्रस्तुत एक तृण को न उड़ा सका। अन्त में इन्द्र स्वयं इस जानकारी के लिये आया तो यक्ष अन्तर्हित हो गये।

इस प्रसंग में यक्ष शब्द का अर्थ आचार्य शंकर ने अपने पदभाष्य में इस प्रकार किया है—**स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव प्रादुर्भूतवत्। तत् प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तः देवाः किमिदं यक्षं पूज्यं महद्भूतमिति।** अर्थात् ब्रह्म अपनी योगमाया के प्रभाव से सबको विस्मित करने वाले अति अद्भुत रूप से देवताओं की इन्द्रियों का विषय होकर प्रादुर्भूत हुए। उस प्रकट हुए ब्रह्म को देवता लोग न जान सके कि यह यक्ष प्राणी कौन है।

वाक्य—भाष्य में आचार्य लिखते हैं **महेश्वरशक्तिमायोपात्तेनात्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं किल केनचिद्रूपविशेषेण। तत्किलोपलभमाना अपि देवा न व्यजानत न विज्ञातवन्तः किमिदं यदेतद्यक्षं पूज्यमिति।** अर्थात् वह महेश्वर की मायाशक्ति से ग्रहण किये हुए किसी बड़े ही विचित्र रूपविशेष से प्रकट हुआ, जिसे देखकर भी देवता लोग यह न जान सके कि यह यक्ष कौन है?

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने योग के आधार पर यक्ष का अर्थ आत्मकोश ही किया है। इसके लिये वे अथर्ववेद के केनसूक्त के निम्नोक्त मंत्रों (३१-३२) को देखने का अनुरोध करते हैं—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

अर्थात् जिसमें आठ चक्र हैं, नौ द्वार हैं, ऐसी देवों की अयोध्या नगरी है, इसके तेजस्वी कोश में प्रकाशमय स्वर्ग है, इसी तेजस्वी कोश में आत्मवान् यक्ष है।

इस प्रकार यह एक आलंकारिक वर्णन है। मूलतः शरीररूपी कर्मभूमि में पृथिवी, अग्नि, जल, वायु, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र आदि सभी देवों ने अंश रूप में अवतार लिये हैं और दुष्टों का शमन कार्य चलाया है किन्तु कार्य करने की शक्ति ब्रह्म से ही प्राप्त हो रही है। इस कर्मभूमि में इन देवों की विजय का कारण ब्रह्म ही है, यह बात देव भूल गये और गर्व करने लगे कि हम ही समर्थ हैं। उनके इस गर्व को दूर करने के लिये वह ब्रह्म प्रकट हुआ जो 'आत्मन्वत् यक्ष' रूप से देवों के सामने आया। परन्तु कोई भी देव

उस यक्ष का ही वाचक है। अथर्ववेद के १०।८।४३ मन्त्र में इस तथ्य को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

अर्थात् त्रिगुणों से बंधे हुए नवद्वारों वाले कमल में आत्मन्वान् यक्ष का निवास है, जिसे ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

अथर्ववेद के ही ८।९।८ मन्त्र में विराट् शब्द परमात्मवाचक और यज्ञ शब्द जीवात्मवाचक प्रतीत होता है।

यां प्रच्यतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त
उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति
सा विराड्षयः परमे व्योमन्॥

अर्थात् जिसके चलने पर सब चलते हैं, जिसके स्थिर होने पर सब स्थिर रहते हैं, जिसके नियम में और सहायता में यक्ष चलता है वह महान् आकाश में विराज् है। स्पष्ट है कि जीवात्मा की गति परमात्मा के ही नियम और साहाय्य से हो रही है अतः यक्ष शब्द जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अथर्ववेद के ही (८।९।२५-२६) मन्त्रों में यक्ष शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में हुआ है।

यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः? (प्रश्न)
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नातिरिच्यते। (उत्तर)

इस प्रकार जहाँ स्वामी शंकराचार्य ने यक्ष का अर्थ परमात्मा किया है वहाँ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने समस्त उपनिषद् की योगपरक व्याख्या करते हुए, समग्र विवरण को शरीर पर घटाते हुए यक्ष का अर्थ जीवात्मा किया है। ऋग्यजुःसामवेदों में तो यक्ष का विवरण नहीं मिलता किन्तु अथर्ववेद में यक्ष का अर्थ जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के ही लिये है।

उमा

केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में लिखा है कि यक्ष के अन्वेषण में संलग्न इन्द्र के समक्ष यक्ष के लुप्त हो जाने पर उसी आकाश में अतिशोभायमान उमा नामक स्त्री प्रकट हुई।

शंकराचार्य ने इस मन्त्र के पदभाष्य में उमा का अर्थ इस प्रकार से किया है। **विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत् स्त्रीरूपा । स इन्द्रः ताम् उमां बहुशोभमानाम्—सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमा विद्या तदा बहुशोभमानेति विशेषणमुपपन्नं भवति हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव बहुशोभमानामित्यर्थः। अथवा उमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति** अर्थात् स्त्रीवेशधारिणी उमारूपा विद्या देवी प्रकट हुई। वह इन्द्र उस अत्यन्त शोभामयी हैमवती उमा के पास गया। समस्त शोभायमानों में विद्या ही सबसे अधिक शोभामयी है, इसलिये उसके लिए बहुशोभमाना यह विशेषण उचित ही है। भर्तृहरि का भी कथन है "विद्या नाम नरस्य रूपमधिकम्"। हैमवती अर्थात् हेम (सुवर्ण) निर्मित आभूषणों वाली के समान अत्यन्त शोभामयी अथवा हिमवान् की कन्या होने से उमा (पार्वती) ही हैमवती है। वह सर्वदा उस ईश्वर के साथ रहती है, अतः उसे जानने में समर्थ होगी—यही सोच कर इन्द्र उसके पास गया।

वाक्यभाष्य में आचार्य शंकर का कथन है—**स शान्ताभिमान इन्द्रोऽत्यर्थं ब्रह्म विजिज्ञासुर्यस्मिन्नाकाशे ब्रह्मणः प्रादुर्भाव आसीत्तिरोधानं च तस्मिन्नेव स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम। अभिप्रायोद्बोधहेतुत्वाद्रुद्रपत्न्युमा हैमवतीव सा शोभमाना विद्यैव। विरूपोऽपि विद्यावान्बहु शोभते।** अर्थात् इस प्रकार अभिमान शान्त हो जाने पर इन्द्र ब्रह्म का अत्यन्त जिज्ञासु होकर उसी आकाश में जिसमें कि ब्रह्म का आविर्भाव एवं तिरोभाव हुआ था, एक अत्यन्त रूपवती स्त्री विद्यादेवी के पास आया। ब्रह्म के गुप्त हो जाने के अभिप्राय को प्रकट करने का कारण होने से वह रुद्रपत्नी हिमालय पुत्री पार्वती के समान शोभामयी ब्रह्म ही थी, क्योंकि विद्यवान् पुरुष रूपहीन होने पर भी बहुत शोभा पाता है।

लोक में और पुराणों में उमा को शिव की पत्नी कहा गया है। अतः उमा शिव ब्रह्म की शक्ति है जो विद्यारूप है। इसकी व्युत्पत्तियां—१. ओः (शिवस्य ब्रह्मणः) मा (लक्ष्मीः) २. उं (शिव—ब्रह्म) माति मिमीते वा ३. अवते ऊयते वा ($\sqrt{}$ऊ—शब्द करना) दी गई है। इन व्युत्पत्तियों के अनुसार भी उमा ब्रह्म की प्रकाशिका शब्दरूपा शक्ति और शोभा है। डा० सीतानाथ गोस्वामी का कथन है कि उमा, अम्बिका, दुर्गा, कात्यायनी आदि एक ब्रह्म के ही अनेक नाम हैं। उमा शिव की ही शक्ति है। माया के

प्रभाव से दोनों पृथक्-पृथक् भासित हैं। वस्तुतः उमा सदा समस्त ज्ञान का कोष मानी गई है।

श्रीसातवलेकर ने हैमवती का अर्थ कुण्डलिनी शक्ति दिया है। उनके अनुसार शरीर में पर्वत पृष्ठवंश अथवा मेरुदण्ड है। इस हिमवान् पर्वत के मूल में कुण्डलिनी शक्ति है, वही पार्वती उमा है।

उमा की तुलना परब्रह्मवाचक पद 'ओम्' से भी की जा सकती है। जो वर्ण ओम् (अ उ म्) में हैं उनसे ही उमा (उ म् आ) शब्द बना है। इसके द्वारा परमात्मा की 'ओम्' रूपी शब्द शक्ति की ओर संकेत किया गया है। इसमें समस्त भाषा समाहित हो जाती है. अ कण्ठ्य ध्वनियों का, उ मुख के अवयवों से उच्चारित ध्वनियों का (क्योंकि उ का उच्चारण करते हुए वायु मुख में घूमती है) और म् वाणी की परिसमाप्ति का प्रतीक है (क्योंकि म् का उच्चारण करते हुए मुख बन्द हो जाता है)। दूसरे शब्दों में यहाँ संकेत है कि गुरुमुखी विद्या के विना ब्रह्मज्ञान असम्भव है।

शान्तिपाठ

प्रत्येक प्रामाणिक उपनिषद् के आरम्भ में एक वा अधिक शान्तिपाठ पढ़े जाते हैं। ये मूलतः उपनिषद् के अङ्ग नहीं हैं। जिस प्रकार लौकिक काव्य तथा नाटक आदि में मंगल पाठ किया जाता है, उसी प्रकार उपनिषद् के आरम्भ से पूर्व और उपनिषद् के अन्त में शान्ति पाठ पढ़ा जाता है।

केनोपनिषद् के कुछ संस्करणों में दो शान्ति पाठ मिलते हैं १—ओं सह नाववतु तथा २—ओम् आप्यायन्तु। कुछ विद्वान् इन मन्त्रों को क्रमशः यजुर्वेदियों और सामवेदियों से सम्बद्ध करते हैं। शंकर की टीका में 'ओम् आप्यायन्तु' को ही केनोपनिषद् का शान्तिपाठ माना गया है।

शान्ति-मन्त्र

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मोपनिषद् माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद-निराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अन्वयार्थः—

(ममाङ्गानि) मेरे अंग (आप्यायन्तु) पुष्ट हों तथा (वाक्) वाणी (प्राणः)

प्राण (चक्षुः) आंखें (श्रोत्रम्) कान (बलम्) बल (च) और (सर्वाणि) सब (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां [पुष्ट हों]। (सर्वम्] यह सब (ब्रह्मोपनिषद्) उपनिषद्वेद्य ब्रह्म है। (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्म का (मा निराकुर्याम्) निराकरण न करूं, (ब्रह्म) ब्रह्म (मा) मेरा (मा निराकरोत्) निराकरण न करे [अर्थात् मैं ब्रह्म से विमुख न होऊं और ब्रह्म मेरा परित्याग न करे]। अनिराकरणम्) इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण (अस्तु) हो, (अनिराकरणम्) अनिराकरण (अस्तु) हो। (उपनिषत्सु) उपनिषदों में (ये) जो (धर्माः) धर्म हैं (ते) वे (आत्मनि) आत्मज्ञान में (निरते) लगे हुए (मयि सन्तु) मुझ में हों (ते) वे (मयि सन्तु) मुझ में हों। (शान्तिः) तापनिवृत्ति हो।

इस मन्त्र में अध्येता शारीरिक बल की कामना के साथ अध्ययन के विषय से अनुराग और अविद्वेष की प्रार्थना करता है। वह ब्रह्मज्ञानियों के समान होना चाहता है, शान्ति पद का तीन बार प्रयोग यहाँ त्रिविध दुःखों और तापों के निवारण की भावना से किया जाता है। ये तीन दुःख और ताप आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक हैं। मनुष्य के मन और शरीर में होने वाले दुःख आध्यात्मिक हैं। वाह्य और प्राकृतिक पदार्थों से प्राप्त दुःख आधिदैविक हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सातवलेकर ने तीन प्रकार की शान्ति का अर्थ क्रमशः व्यक्ति, समाज तथा जगत् की दुःख निवृत्ति माना है।

टिप्पणी—

१. आप्यायन्तु—आ + √प्यै अथवा √प्याय् बढ़ना, शक्तिशाली होने से लोट् प्रथम पुरुष बहुवचन का वैदिक रूप है। लौकिक संस्कृत में ये धातु आत्मनेपद है। यहां परस्मैपद का प्रयोग है।

२. अनिराकरणम्—न निराकरणम्—नञ् तत्पुरुष, निर् + आ + √कृ, ल्युट्, नपुंसक।

३. मा निराकरोत्—निर् + आ + √कृ, लङ् प्रथम पुरुष एक० यहाँ विधिलिङ् का भाव अभीष्ट है। अतः लङ् लकार का प्रयोग वैदिक है।

—:०:—

केनोपनिषद्

प्रथमः खण्डः

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

शाङ्कर भाष्य—

केन कर्त्रा इषितम् इष्टमभिप्रेतं सत् मनः पतति गच्छति स्वविषयं प्रतीति सम्बध्यते। इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासम्भवादिच्छार्थस्यैवैतद्रूपमिति गम्यते। इषितमिति इट्प्रयोगस्तु छान्दसः। तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत्।

केन प्राणः युक्तः नियुक्तः प्रेरितः सन् प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति। प्राण इति नासिकाभवः, प्रकरणात्। प्रथमत्वं प्रचलनक्रियायाः प्राणनिमित्तत्वात्स्वतो विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः। चलिक्रिया तु प्राणस्यैव मनआदिषु तस्मात्प्राथम्यं प्राणस्य। प्रैति गच्छति युक्तः प्रयुक्त इत्येतत्।

केन इषितां वाचम् इमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः। तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवः द्योतनवान् युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति।

अन्वयार्थः—(केन) किसके द्वारा (इषितम्) संचालित (प्रेषितम्) प्रेरित हुआ (मनः) मन [अपने अभीष्ट विषय की ओर] (पतति) गिरता है अर्थात् जाता है? (केन) किससे (युक्तः) नियुक्त किया हुआ (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ (प्राणः) प्राण (प्रैति) चलता है? (केन) किसके द्वारा (इषिताम्) संचालित (इमां वाचम्) इस वाणी को [मनुष्य] (वदन्ति) बोलते हैं? (कः) कौन (उ) निश्चित रूप से (देवः) देवता (चक्षुः) आंख (श्रोत्रम्) कान को (युनक्ति) नियुक्त करता है?

व्याख्या—केनोपनिषद् के प्रथम मन्त्र का प्रथम शब्द केन दार्शनिक भावों से ओत-प्रोत है। केन शब्द प्रश्न को द्योतित करता है जिसका अर्थ है किसके द्वारा। जिज्ञासु के मन में स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है कि किसकी प्रेरणा से यह शरीर चल रहा है? कौन आंख और कान आदि इन्द्रियों को प्रेरित कर रहा है? यह प्रश्न ही इस उपनिषद् की उच्च दार्शनिकता को प्रकट करता है क्योंकि दार्शनिकों ने मूल रूप में प्रश्न या समस्या की उद्भावना को ही दर्शन का आधार माना है। किन्तु केनोपनिषद् के केन शब्द में ही उत्तर का आभास मिलता है कि निश्चय ही कोई शक्ति जगत् में विद्यमान है जो हमारे शरीर को तथा अन्य वस्तुओं को अपना-अपना कार्य करने के लिये प्रेरित कर रही है। अतः केन शब्द ही उत्तर की ओर संकेत कर रहा है।

शरीर में मन, प्राण, वाणी, आंख, कान आदि इन्द्रियां स्व-स्व कार्य कर रहे हैं। उनके विषय में इस मंत्र में पूछा गया है कि चक्षु, वाणी आदि इन्द्रियों को ही नहीं, अपितु प्राण को भी अपना-अपना कार्य करने की योग्यता प्रदान करने वाला और उन्हें अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त करने वाला सर्व-शक्तिमान् देव कौन है।

सब इन्द्रियों में प्राण की सर्वश्रेष्ठता बृहदारण्यक (६।१।६-१४) तथा छान्दोग्योपनिषद (५।१।६) में मनोवैज्ञानिक कथा के रूप में प्रस्तुत की गई है। प्राण आने पर ही सब पदार्थों में गति और क्रिया होती है इसीलिये इसे सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय अध्याय में प्राण की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि चक्षु आदि के निर्गमन से शरीर नष्ट नहीं होता किन्तु प्राण के निर्गमन से शरीर नष्ट होता है, उसी प्रकार शरीर में प्राण के प्रवेश करने से शरीर उठ जाता है।

ऐतरेय आरण्यक २.१.४

प्राण उदक्रामत्तत्प्राण उत्क्रान्तेऽपपद्यत। तदशीर्यताशारीरीति ॐ तच्छ-रीरमभवत्तच्छरीरस्य शरीरत्वम्......प्राणः प्राविशत्तत्प्राणे प्रपन्न उदति-ष्ठत्तदुक्थमभवत्।

सम्भवतः देव शब्द इसलिये प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है कि मन, प्राण, वाणी कोई भी इन्द्रिय अपने आप कार्य करने में समर्थ नहीं है। किसी देवता से प्रेरित होकर ही ये सब स्व-स्व कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। अतः

स्वभावतः यह जानने की इच्छा उत्पन्न होती है कि वह प्रधान प्रेरक कौन है।

टिप्पणी—

१. **इषितम्**—√इष् गतौ क्त। (दिवादि०) इसमें णिजन्त का भाव अभीष्ट है (चलाया गया)। स्वामी शंकराचार्य इसे इच्छार्थक √इष् का वैदिक रूप मानते हैं।

२. **प्रथमः**—√प्रथ् प्रख्याने,फैलाना, व्याप्त होने वाला अर्थात् मुख्य। प्रथम का अर्थ प्र+तमः अर्थात् उत्तम या सर्वश्रेष्ठ अथवा पहला भी लिया जा सकता है।

३. **मनः**—'मनुतेऽनेनेति विज्ञाननिमित्तमन्तःकरणं मनः'। जिससे मनन करते हैं वह विज्ञाननिमित्तक अन्तःकरण मन है।

४ **प्रैति**—प्र+√इ गतौ, जाना, (अदादि०) लट्, प्रथम, एकवचन। प्र+ एति में पररूप (प्रेति) के स्थान में वृद्धि होकर प्रैति बना है।

५. **वाचम्**—वाच् द्वितीया एकवचन स्त्रीलिङ्ग। वाणी चार प्रकार की है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। पहली तीन अज्ञात रूप में रहती हैं। वैखरी को लौकिक मनुष्य बोलते और सुनते हैं। वाणी नित्य है, उसमें परिवर्तन या विकार नहीं होता है।

६. **देवः**—√दिव्— क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न-कान्तिगतिषु दश अर्थों में प्रयुक्त √दिव् से बनता है और इन सब भावों का द्योतक है। समस्त दिव्य गुणों से युक्त शक्ति के लिए ही देव प्रयुक्त हुआ है।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

शाङ्करभाष्यम्—श्रोत्रस्य श्रोत्रम् इत्यादिप्रतिवचनं निर्विशेषस्य निमित्तत्वार्थम्। विक्रियादिविशेषरहितस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तौ निमित्तत्वम् इत्येतच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रतिवचनस्यार्थः अनुगमात्। तदनुगतानि ह्यत्रास्मिन्नर्थेऽक्षराणि। शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, तस्य शब्दावभासकत्वं श्रोत्रत्वम्, शब्दो-

पलब्धृरूपतयावभासकत्वं न स्वतः, श्रोत्रस्याचिद्रूपत्वात्, आत्मनश्च चिद्रूपत्वात् ।

कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः ?

अयमत्र पदार्थः—श्रोत्रं तावत्स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम् । तत्तु स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति, न असति इति । अतः श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते । तथा च श्रुत्यन्तराणि— 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० उ० ४।३।६) । तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (क० उ० २।२।१५, श्वे० ६।१४, मु० २।२।१०) । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७ इत्यादीनि' यदादित्यगतं (तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्' (गीता १५।१२)' क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत' (गीता १३।३३) इति च गीतासु । काठके च' 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (२।२।१३) इति श्रोत्राद्येव सर्वस्यात्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धम्, तदिह निवर्त्यते । अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजमजरममृतमभयं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामार्थ्यनिमित्तम् इति प्रतिवचनं शब्दार्थश्चोपपद्यत एव ।

तथा मनसः अन्तःकरणस्य मनः । न ह्यन्तःकरणम् अन्तरेण चैतन्यज्योतिषो दीधितिं स्वविषयसङ्कल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात् । तस्मान्मनसोऽपि मन इति । इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति ।

वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इति विभक्तिद्वयं सर्वत्रैव द्रष्टव्यम् । कथम् ? पृष्टत्वात्स्वरूपनिर्देशः, प्रथमयैव च निर्देशः । तस्य च ज्ञेयत्वात्कर्मत्वमिति द्वितीया । अतो वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इत्यस्मात्सर्वत्रैव विभक्तिद्वयम् ।

प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणः तत्कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम् । न ह्यात्मनानधिष्ठितस्य प्राणनमुपपद्यते, को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् (तै० उ० २।७।१) ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति (क० उ० २।२।३) इत्यादि श्रुतिभ्यः ।

तथा चक्षुषश्चक्षू रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव । अतः चक्षुषश्चक्षुः ।

श्रोत्रादिकरणकलापमुज्झित्वा श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा, तदुपाधिः सन्, तदात्मना जायते म्रियते संसरति च । अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं

ब्रह्मात्मेति विदित्वा, अतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यज्य ये श्रोत्राद्यात्म-भावं परित्यजन्ति, ते धीराः धीमन्तः, न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्, प्रेत्य व्यावृत्य अस्मात् लोकात् पुत्रमित्रकलत्र-बन्धुषु ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात्, त्यक्तसर्वैषणा भूत्वेत्यर्थः। अमृता अमर-धर्माणो भवन्ति।

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः (कैवल्य० १।२)'—पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' (क० उ० २।१।१) 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः अत्र ब्रह्म समश्नुते' (क० उ० २।३।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

सति ह्यज्ञाने कर्माणि शरीरान्तरं प्रतिसन्दधते। आत्मावबोधे तु सर्वकर्मा-रम्भनिमित्ताज्ञानविपरीतविद्याग्निविप्लुष्टत्वात् कर्मणामनारम्भेऽमृता एव भवन्ति।

अन्वयार्थः—(यत्) जो (श्रोत्रस्य) कान का (श्रोत्रम्) कान है। (मनसः) मन का (मनः) मन है। (वाचः) वाणी का (वाचम्) वाणी है। (सः) वह (उ) निश्चय से (प्राणस्य) प्राण का (प्राणः) प्राण है। (चक्षुषः) आंख का (चक्षुः) आंख है। (धीराः) बुद्धिमान् मनुष्य [इन लौकिक इन्द्रियों की परिधि को] (अतिमुच्य) त्यागकर (अस्मात् लोकात्) इस लोक से (प्रेत्य) पृथक् होकर मरणोपरान्त (अमृताः) अमर (भवन्ति) हो जाते हैं।

व्याख्या—इस कथन का तात्पर्य यह है कि यह हमारा कान जो बाहर दिखाई दे रहा है सच्चा कर्णेन्द्रिय नहीं है, सच्चा कर्णेन्द्रिय आत्मा की शक्ति में विद्यमान है। श्रोत्रेन्द्रिय स्वतः जड़ है, किन्तु उस चेतन की सत्ता के द्वारा ही वह शब्दों के ग्रहण करने में समर्थ होता है। इसलिये वह कान का कान है। इसी प्रकार संपूर्ण विषयों के जानने में साधारण कारण मन है, वह स्वरूप से जड़ है, किन्तु उसकी सत्ता से ही वह सब विषयों को जानता है, अतः वह मन का भी मन है। वागिन्द्रिय स्वतः जड़ है किन्तु उसके सामर्थ्य के द्वारा ही सब शब्दों के उच्चारण करने में समर्थ है, इसलिये वह वाणी की वाणी है। प्राण भी उसकी शक्ति के द्वारा ही शरीर के धारण करने में समर्थ है। अतः वह प्राण का प्राण है और चक्षु भी उसकी सत्ता से ही बाह्य

वस्तुओं को देखने में समर्थ है। इसलिये वह चक्षु का चक्षु है। इन्द्रियों की सब शक्तियाँ इस आत्मा में ही विद्यमान हैं। प्रत्येक इन्द्रिय में जो विशेषता, क्रिया आदि दिखाई दे रही है, वह सब आत्मा की शक्ति के कारण ही है। आत्मा की प्रेरणा के बिना और आत्मशक्ति के प्रभाव के बिना कोई इन्द्रिय कोई कार्य नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ—अग्नि जोकि अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता। अज्ञानी मनुष्य इस तथ्य को समझता हुआ, इन्द्रिय, मन आदि को ही सत्य समझता है, इसलिये शरीर के धर्मों का उस पर आरोप करके उसमें जन्म-मरण आदि की कल्पना करता है। किन्तु वस्तुतः आत्मा सदा ही अमर है, वह कभी मरती नहीं। गीता में भी कहा गया है "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। इसलिये (२।२३) ज्ञानी मनुष्य इन्द्रियों में आत्मबुद्धि का त्याग करके और एक अनादि अनन्त ब्रह्म का ध्यान करके अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। शंकराचार्य ने पदभाष्य में इस तत्त्व ज्ञान को सर्वोत्तम और संसार बन्धन से मोक्षदायक मानते हुए मुण्डकोपनिषद् के निम्नोक्त मन्त्र को उद्धृत किया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे (२।२८)

उस पर ब्रह्म को देख लेने पर ज्ञानी मनुष्य की हृदय ग्रन्थि टूट जाती है। उसके सभी सन्देह नष्ट हो जाते हैं और सभी कर्म जिनके फलस्वरूप उसे अच्छी बुरी योनि में जन्म लेना पड़ता है—क्षीण हो जाते हैं।

टिप्पणी—

१. ह—यह निपात (अव्यय) है। इसका अर्थ 'तनिक बल देना' या 'गम्भीरतापूर्वक' कहना है। वेद में इसका प्रयोग बहुत होता है।
२. अतिमुच्य—अति + √मुच् मोक्षणे (तुदादि०) + ल्यप्।
३. धीराः—धीः पद बुद्धि और कर्म दोनों अर्थों का वाचक है। अतः ब्रह्म का क्रियात्मक ज्ञान रखने वाले जनों को धीर कहा गया है।
४. प्रेत्य—प्र + √इ जाना + ल्यप्। शकराचार्य के अनुसार 'अस्माल्लोकात्प्रेत्य' से यह अर्थ समझना चाहिये कि 'इस शरीर से अलग हो कर अर्थात् मर कर'।

५. अमृत— डा० सुधीर गुप्त के अनुसार 'अमृत' अम+ऋत का योग है जिसमें अम के अन्तिम अ का लोप हो गया है। अथर्ववेद १३।८।५ में ब्रह्म को 'अम' कहा है, ऋग्वेद में देवों और पृथिवी आदि भूतों को अम-ब्रह्म (=ब्रह्मशक्ति) में निहित माना गया बताया है। ऋत-√ऋ जाना+क्त से बना है। अतः 'ब्रह्म को प्राप्त' जन ही अमृत या अमर है। यही भाव इस उपनिषद् को अभिप्रेत है। न मृताः= अमृताः (नञ् तत्पुरुष)

—:०:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥३॥

शांकरभाष्यम्—न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि चक्षुः गच्छति, स्वात्मनि गमनासम्भवात्। तथा न वाग् गच्छति। वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति यदा, तदाभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीत्युच्यते। तस्य च शब्दस्य तन्निर्वर्तकस्य च करणस्यात्मा ब्रह्म। अतो न वाग्गच्छति यथाग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन् न ह्यात्मानं प्रकाशयति दहति वा, तद्वत्।

नो मनः मनश्चान्यस्य सङ्कल्पयितृ अध्यवसायितृ च सत् नात्मानं सङ्कल्पयत्यध्यवस्यति च, तस्यापि ब्रह्मात्मेति। इन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानम्। तदगोचरत्वान्न विद्मः तद्ब्रह्म ईदृशमिति।

अतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेण एतद् ब्रह्म अनुशिष्यात् उपदिशेच्छिष्यायेत्यभिप्रायः यद्धि करणगोचरं तदन्यस्मै उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रियाविशेषणैः। न तज्जात्यादिविशेषणवद्ब्रह्म तस्माद्विषमं शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति उपदेशे तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति।

सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः आगमेन तु शक्यत एव प्रत्याययितुमिति तदुपदेशार्थमागममाह—

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यागमं विदिताविदिताभ्यामन्यत्वम्। यो हि ज्ञाता स एव सः सर्वात्मकत्वात्। अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावाद्विदितादन्यत्वम्। 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वे०उ० ३।१९) इति

च मन्त्रवर्णात् । विज्ञातारमरे केन 'विजानीयात्' (बृ० उ० १।४।१४) इति च वाजसनेयके । अपि च व्यक्तमेव विदितं तस्मादन्यदित्यभिप्रायः । यद्विदितं व्यक्तं तदन्यविषयत्वादल्पं सविरोधं ततोऽनित्यमत एवानेकत्वादशुद्धमत एव तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम् ।

अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्ते आह—अथो अपि अविदिताद् विदित-विपरीतादव्याकृताविद्यालक्षणाद्व्याकृतबीजात्, अधि इति उपर्यर्थे, लक्षणया अन्यद् इत्यर्थः । यद्धि यस्मादधि उपरि भवति तत्तस्मादन्यदिति प्रसिद्धम्, यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम् । तस्माद्विदितादन्यद्ब्रह्म इत्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं स्यात् । तथा अविदितादधि इत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात् । कार्यार्थं हि कारणमन्यदन्येन उपादीयते । अतश्च न वेदितुः अन्यस्मै प्रयोजनायान्यदुपादेयं भवतीति ।

एवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपादकस्य वाक्यार्थस्य आचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह-इति शुश्रुमेत्यादि । ब्रह्म च एवमाचार्योपदेशपरम्परया एवाधिगन्तव्यं न तर्कतः प्रवचनमेधाबहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्च, इति एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषाम् आचार्याणां वचनम्, ये आचार्याः । नः अस्मभ्यं तद् ब्रह्म व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः विस्पष्टं कथितवन्तः तेषाम् इत्यर्थः ।

अन्वयार्थः—(तत्र) वहां [उस ब्रह्म-विषय में] (चक्षुः) आँख (न) नहीं (गच्छति) जाती है, (वाक्) वाणी (न) नहीं (गच्छति) जाती है । (न) न ही (मनः) मन [वहाँ पहुँच पाता है] । (यथा) जिस प्रकार [शिष्य को] (एतद्) इस ब्रह्म का (अनुशिष्यात्) उपदेश करें, (न) नहीं (विद्मः) जानते हैं तथा (न) नहीं (विजानीमः) सम्यक् प्रकार से समझते हैं । (तद्) वह [ब्रह्म] (विदिताद्) जाने हुए से (अन्यद्) भिन्न (एव) ही है (अथो (और (अविदिताद्) न जाने हुए से (अधि) परे है (अर्थात् ब्रह्म ज्ञात तथा अज्ञात दोनों से भिन्न है] । (इति) ऐसा (पूर्वेषाम्) पूर्व आचार्यों से (शुश्रुम) सुना है (ये) जिन्होंने (नः) हमारे लिये (तद्) उस ब्रह्म की (व्याचचक्षिरे) व्याख्या की है ।

व्याख्या—उस परब्रह्म परमात्मा को आँख ग्रहण नहीं कर पाती है,

अर्थात् वह आँख का विषय नहीं है इसीलिये इसे आँख नहीं देख पाती है। चक्षु केवल वाह्य वस्तुओं को देखने में समर्थ है किन्तु आत्मा का कोई रूप न होने के कारण आँख उस तक पहुँच पाने में समर्थ नहीं होती है। वाणी शब्दों द्वारा प्रत्येक देखे, सुने और जाने हुए पदार्थों का वर्णन कर सकती है किन्तु आत्मा देखा, सुना और जाना हुआ नहीं है इसलिये वाणी से उसका वर्णन नहीं हो सकता है। इस प्रकार वाणी 'नेति नेति' कहकर शान्त हो जाती है। इसी प्रकार मन अन्य पदार्थों का संकल्प और निश्चय करने वाला होता हुआ भी अपना सङ्कल्प या निश्चय नहीं करता है क्योंकि ब्रह्म उसकी भी आत्मा है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होने के कारण ब्रह्म में प्रवेश नहीं कर सकतीं क्योंकि ब्रह्म उनकी भी आत्मा है। चक्षु आदि इन्द्रियां बहिर्मुखी होने के कारण ब्रह्म में प्रवेश नहीं कर सकतीं क्योंकि ब्रह्म उनका प्रेरक अधिष्ठान है अर्थात् वे उसको विषय नहीं बना सकती हैं। इन्द्रियों में जो चेतना क्रिया प्रतीत होती है, वह सब स्वयं इसी ब्रह्म की प्रेरणा से और शक्ति से होती हैं। ऐसी स्थिति में इन्द्रिय, मन आदि के द्वारा कोई कैसे बता सकता है कि 'ब्रह्म ऐसा है'। अभिप्राय यह है कि मानवीय ज्ञान के सभी साधन परब्रह्म के ज्ञान में सर्वथा असमर्थ ही सिद्ध होते हैं। मानवीय साधनों की परब्रह्म ज्ञान में असमर्थता का अर्थ यह है कि ये इन्द्रियां वहिर्मुखी हैं। स्वयम्भू ने बाह्य पदार्थों को देखने के लिये ही इन्द्रियों की रचना की है। अतः वे वाह्य पदार्थों को ही देख सकती हैं। परब्रह्म बाह्य पदार्थ नहीं अतः वह इन्द्रियों का विषय नहीं है।

कठोपनिषद् २।१।१ में भी कहा गया है कि इन्द्रियों को बाहर के पदार्थ देखने के लिए बनाया गया है वे अन्तरात्मा को नहीं देख सकतीं—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्"।

अतः इन्द्रियों की सामर्थ्य में न होने के कारण न तो हम उसे जान पाते हैं, और न उसका सम्यक् प्रकार से अनुभव कर पाते हैं। शंकराचार्य के अनुसार जो वस्तु इन्द्रियों का विषय होती है, उसी का जाति, गुण और क्रिया रूप विशेषणों द्वारा दूसरे को उपदेश किया जा सकता है। किन्तु ब्रह्म उन जाति

आदि विशेषणों वाला नहीं है। इसलिए किस प्रकार से इस ब्रह्म का उपदेश करें, यह न तो हम अपनी बुद्धि के द्वारा समझ पाए हैं और न ही शास्त्रों के द्वारा जान पाए हैं।

आत्मा अर्जित किए हुए इन्द्रिय ज्ञान से परे है और न जाने हुए से भी भिन्न है। जितना इन्द्रियों और मन आदि से ज्ञात है वह आत्मा नहीं है तथा जो इन्द्रियों और मन आदि से गम्य और तर्क करने योग्य किन्तु अज्ञात है उससे भी वह विलक्षण है। अतः उसका उपदेश नहीं किया जा सकता। श्री शंकराचार्य के अनुसार जो वस्तु विदित होती है, वह अल्प मरणशील एवं दुःखमयी होती है इसलिये वह त्याज्य है। ब्रह्म उस विदित वस्तु से भिन्न है। ऐसा कहने से उसका अहेयत्व बताया गया है। वह अविदित से भी परे है। ऐसा कहने पर उसका अनुपादेयत्व प्रतिपादन किया गया है। किसी कार्य के लिये ही किसी अन्य पुरुष द्वारा एक अन्य कारण अर्थात् साधन को ग्रहण किया जाता है अतः आत्मा को किसी अन्य प्रयोजन के लिए कोई अन्य साधन उपादेय नही है। इस प्रकार वह विदित तथा अविदित दोनों से भिन्न है। जिन महात्माओं ने इस परब्रह्म के सम्बन्ध में हम लोगों को इस प्रकार से समझाया है, उन पूर्वपुरुषों से हमने ऐसा ही सुना है। अतः इस मन्त्र का भाव यही है कि ब्रह्म चक्षु आदि इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है। उसका उपदेश करना सम्भव नहीं है, श्रुति, स्मृति आदि सभी यहाँ आकर 'नेति नेति' कहकर अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए ही उपराम लेते हैं।

टिप्पणी—

१. नो—यह निषेधार्थक अव्यय है। इसमें न+उ की सन्धि है, तथापि इसे एक पद माना है।
२. विद्मः—√विद् ज्ञाने (जानना) (अदादि०) लट् लकार, उत्तम पुरुष बहुवचन।
३. विजानीमः— वि+√ज्ञा अवबोधने (क्र्यादि०) लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।
४. एतद्—यह ब्रह्म का द्योतक पद है।
५. अनुशिष्यात्—अनु+शास् (अदादि०) विधिलिङ् प्रथम पुरुष एकवचन।

६. शुश्रुम—√श्रु, श्रवणे (भ्वादि०) लिट् उत्तम पुरुष, वहुवचन ।
७. व्याचचक्षिरे—वि+आ, √चक्ष् व्यक्तायां वाचि (अदादि०) लिट् प्रथम पुरुष वहुवचन ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

शाङ्करभाष्यम्—यत् चैतन्यमात्रसत्ताकम्, वाचा वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु विषक्तमाग्नेयं वर्णानाम् अभिव्यञ्जकं करणम्, वर्णाश्चार्थसङ्केतपरिच्छिन्ना एतावन्त एवं क्रमप्रयुक्ता इति, एवं तदभिव्यङ्ग्यशब्दः पदं वागिति उच्यते ।

तया वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्या—अनभ्युदितम् अप्रकाशितमनभ्युक्तम् ।

येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वाक् अभ्युद्यते चैतन्यज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यत इत्येतद्यद्वाचो ह वागित्युक्तम्, यो वाचमन्तरो यमयति (बृ० उ० ३।७।१७) इत्यादि च वाजसनेयके ।

तदेव आत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वम् । यैर्वागाद्युपाधिभिर्वाचो ह वाक् चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः कर्त्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्येवमादयः संव्यवहारा असंव्यवहारे निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते, तान्व्युदस्य आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीति एव शब्दार्थः । नेदं ब्रह्म यदिदम् इत्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वरादि उपासते ध्यायन्ति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्म इत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते नियमार्थम् अन्यब्रह्मबुद्धिपरिसंख्यानार्थं वा !

अन्वयार्थः—(यत्) जो (वाचा) वाणी के द्वारा (अनभ्युदितम्) अकथनीय है [किन्तु] (येन) जिसके द्वारा (वाक्) वाणी अभ्युद्यते) वोली जाती है (तद् एव) उसको ही (त्वम्) तुम (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जानो (इदम्) उसका (न) नहीं (यत्) जिस (इदम्) इस जगत् की (उपासते) [ये लोग] उपासना करते हैं ।

व्याख्या—जो ब्रह्म वाक् आदि इन्द्रियों का अविषय है, वह किस प्रकार ज्ञातव्य है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वाणी के द्वारा जो कुछ

भी व्यक्त किया जाता है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तत्त्व वाणी से सर्वथा अतीत है। शंकराचार्य के अनुसार जो ब्रह्म वाणी से अर्थात् शब्द से अप्रकाशित है किन्तु जिसके द्वारा वाणी बोली जाती है ऐसा कहकर ब्रह्म को वाणी के प्रकाश का हेतु बताया गया है अर्थात् यह दिखाया गया है कि वाणी में जो अर्थ को अभिव्यञ्जित करने का सामर्थ्य है, वह ब्रह्म का ही है। इस मन्त्र में जिसकी प्रेरणा से वाणी बोली जाती है, वह कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

अज्ञानी मनुष्य वाक् आदि इन्द्रियों को ही ब्रह्म समझकर उनकी उपासना करता है किन्तु उसे यह ज्ञात नहीं होता कि ब्रह्म वाक् आदि इन्द्रियों की पहुंच से बाहर है। ये इन्द्रियाँ ब्रह्म की शक्ति से ही चालित हैं। ब्रह्म की प्रेरणा से ही संपूर्ण इन्द्रियां अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होती हैं। यह उसकी ही शक्ति है जो इन्द्रियों द्वारा प्रकट हो रही है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म ही सब इन्द्रियों का प्रेरक है, किन्तु इन्द्रियां उसकी प्रेरक नहीं हैं।

जिस ब्रह्म का वाणी के द्वारा कथन नहीं किया जा सकता है किन्तु जिसकी सत्ता से वाक् इन्द्रिय शब्दों का उच्चारण करती है अर्थात् स्व व्यापार में समर्थ है, उसीको तुम ब्रह्म जानो और जिस ज्ञाता ज्ञेय भेद वाले उपाधि विशिष्ट परिच्छिन्न चेतन की अर्थात् जीव की ये लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म के विषय में तो केवल इतना ही कहा जा सकता है जिसकी शक्ति के किसी अंश से हमारी वाणी में प्रकाशित होने की, बोलने की शक्ति आई है, जो वाणी का भी ज्ञाता, प्रेरक और प्रवर्तक है वह ब्रह्म है। बृहदारण्यकोपनिषद (२.१) में आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण शब्द आदि में पुरुष की उपासना का निराकरण करके कहा गया है कि ये ब्रह्म नहीं हैं इसी प्रकार तन्त्रों, जैनों, बौद्धों और अन्य धर्मों में जिन कल्पित और पूजित देवी-देवताओं की उपासना की जाती है वे ब्रह्म नहीं हैं।

टिप्पणी—

१. यत् यह 'ब्रह्म' के लिए आया है।

२. **अनभ्युदितम्**—न अभ्युदितम् (नञ् तत्पुरुष) अभि+√वद् +क्त।

३. अभ्युद्यते—अभि + √वद् (कर्मणि) व्यक्तायां वाचि (भ्वादि०) लट् प्रथमपुरुष, एक० ।
४. ब्रह्म—ब्रह्मन् (नपुं०) द्वितीया एक० यह वृद्धचर्थक √वृह, √वृंह से बनता है। ईश्वर सर्वव्यापक एवं बढ़ा हुआ है. अतः उसे ब्रह्मन् कहा जाता है।
५. विद्धि—√विद् ज्ञाने (अदादि०) लोट् मध्यम पुरुष, एकवचन।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

शाङ्करभाष्यम्—'यन्मनसा न मनुते' मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते । मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरणसाधारणं सर्वविषयव्यापकत्वात् । 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० उ० १।५।३) इति श्रुतेः कामादिवृत्तिमन्मनः । तेन मनसा यत् चैतन्यज्योतिर्मनसः अवभासकं न मनुते न सङ्कल्पयति नापि निश्चिनोति लोकः, मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात् । सर्वं विषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम् । अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषावभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यम्; तेन सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तम् आहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः । तस्मात् तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि । नेदं नेदमित्यादि पूर्ववत् ॥५॥

अन्वयार्थः—(यत्) जो (मनसा) मन के द्वारा (न मनुते) विचार नहीं करता है [किन्तु] (येन) जिसके द्वारा (मनः) मन (मतम्) विचार करता है (आहुः) ऐसा कहते हैं (तद् एव) उसको ही (त्वम्) तुम (ब्रह्म) पर ब्रह्म (विद्धि) जानो (यत्) जिस (इदम्) इस [जगत्] को (उपासते) ये लोग उपासना करते हैं (इदम्) उसको (न) नहीं ।

व्याख्या—यहां 'मन' शब्द से अन्तःकरण का ग्रहण किया गया है । मनो नाम सङ्कल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्ति (वेदान्तसार २.६६) मन की अनेक क्रियायें हैं—सोच-विचार करना, जानना, इच्छा करना, डरना, अभिमान करना आदि । इन क्रियाओं की दृष्टि में मन की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है । मन की संख्या एक से दस तक बताई गई है । वस्तुतः मन एक है ।

किन्तु उसकी क्रियाओं के अनुरूप उसे अलग-अलग नाम दिये गये हैं। उसकी क्रियाओं को बहुधा चार भागों में विभक्त कर उसके मन बुद्धि अहंकार और चित्त नाम रखे गये हैं—

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥

ब्रह्म मन के द्वारा भी विषय नहीं बनाया जाता है, किन्तु जिसके द्वारा मन अपने सङ्कल्प-विकल्प रूप व्यवहार करता है उसी को तुम ब्रह्म जानो। इसे तुम परमेश्वर मन और बुद्धि से सर्वथा अतीत समझो। उसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि जो मन बुद्धि का ज्ञाता, उसमें मनन और निश्चय करने की शक्ति देने वाला तथा जिसकी शक्ति के किसी अंश से बुद्धि में निश्चय करने की तथा मन में मनन करने की शक्ति आई है वही ब्रह्म है। मन के द्वारा सांसारिक मनुष्य जिसका मनन, सङ्कल्प अथवा निश्चय नहीं कर सकते, विद्वान् मनुष्य मन को उस परब्रह्म के द्वारा विषयीकृत अर्थात् व्याप्त बतलाते हैं। उसी परब्रह्म परमात्मा को तुम परब्रह्म समझो, तथा साधारण सांसारिक मनुष्य जिसकी उपासना करते हैं, वह परब्रह्म नहीं है।

टिप्पणी—

१. मनुते—√मन् अवबोधने, लट् (तनादि०) प्रथम पुरुष एक०
२. आहुः—√ब्रू व्यक्तायां वाचि, लट्, (अदादि०) प्रथम पुरुष, बहु०

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

शाङ्करभाष्यम्—यत् चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरोति अन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन लोकः, येन चक्षूंषि अन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकरोति व्याप्नोति। तदेवेत्यादि पूर्ववत्।

अन्वयार्थः—(यत्) जो (चक्षुषा) आँखों द्वारा (न पश्यति) नहीं देखता है [किन्तु] (येन) जिसके द्वारा (चक्षूँषि) आँखें (पश्यति) देखती हैं (तद् एव) उसको ही (त्वम्) तुम (ब्रह्म) परब्रह्म (विद्धि) जानो (यत्) (इदम्) इस [जगत्] की (उपासते) ये लोग उपासना करते हैं (इदम्) उसको (न) नहीं।

व्याख्या—इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि मनुष्य उस परब्रह्म परमात्मा को आंख से नहीं देख सकते। ब्रह्म आंख की अपेक्षा नहीं रखता है, अर्थात् वह आंख का विषय नहीं है। किन्तु आंखें उसके द्वारा देखती हैं। दूसरे पद में येन चक्षूँषि पश्यति पद आया है। यहाँ 'चक्षूँषि' शब्द बहुवचन और 'पश्यति' शब्द एकवचन है। इसके सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि यह आर्ष प्रयोग है। वेद में बहुधा एकवचन का रूप बहुवचन के लिए भी प्रयुक्त हो जाता है। अन्य आचार्य इसका अर्थ 'आँखों का व्यापार' लेते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य इन आँखों के विषय रूप को देखते हैं। तात्पर्य यह है कि परब्रह्म की सत्ता के द्वारा ही मनुष्य आंख के विषयों को देख सकता है। क्योंकि परब्रह्म चक्षु आदि इन्द्रियों से सर्वथा अतीत है। उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्ति और प्रेरणा से चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने विषय को प्रत्यक्ष करने में समर्थ होती हैं वही ब्रह्म है। अतः उसी को तुम ब्रह्म समझो। जिसकी यह लोग पूजा कर रहे हैं उसको नहीं, 'तदेव' इत्यादि पूर्ववत्।

टिप्पणी—

१. चक्षूँषि—चक्षुष् प्रथमा बहु० नपुंसक। ये आंखें समस्त प्राणियों की हैं, अतः बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

२. पश्यति—√दृश् प्रेक्षणे, लट् (भ्वादि०) प्रथम पुरुष एक०। दूसरे पद का पश्यति बहुवचनान्त अभिप्रेत है। लौकिक संस्कृत में 'पश्यन्ति' बनता है किन्तु वेद में व्यत्यय से एकवचन का प्रयोग बहुवचन के लिए भी हो जाता है।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

शाङ्करभाष्यम्—यत् श्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेन आकाशकार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयीकरोति लोकः येन श्रोत्रम् इदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतम्। तदेव इत्यादि पूर्ववत्।

अन्वयार्थः—(यत्) जो (श्रोत्रेण) कान से (न) नहीं (शृणोति) सुनता है किन्तु (येन) जिसके द्वारा (इदम्) यह (श्रोत्रम्) सुना हुआ है। (तद् एव) उसको ही (त्वम्) तुम (ब्रह्म) परब्रह्म (विद्धि) जानो, (यत्) जिस (इदम्)

इस [जगत्] की (उपासते) ये लोग उपासना करते हैं (इदम्) इसको (न) नहीं।

व्याख्या—मनुष्य परब्रह्म को कान के द्वारा नहीं सुन सकते अर्थात् ब्रह्म कान की अपेक्षा नहीं रखता है, वह कान का विषय नहीं है। किन्तु मनुष्य जिसके द्वारा इस शब्द को कान से सुना हुआ मानते हैं वह ब्रह्म है। परब्रह्म परमेश्वर श्रोत्रेन्द्रिय से सर्वथा अतीत है उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो श्रोत्र-इन्द्रिय का ज्ञाता, प्रेरक और उसमें सुनने की शक्ति देने वाला है तथा जिसकी शक्ति के किसी अंश से श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द ग्रहण करने का सामर्थ्य आया है, वही ब्रह्म है, अतः उसी की तुम उपासना करो किन्तु जिसकी यह जगत् उपासना करता है उसकी नहीं। 'तदेव' इत्यादि पूर्ववत्।

टिप्पणी—

१. शृणोति—√श्रु श्रवणे, लट् (भ्वादि०) प्रथम पुरुष एक०।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

शाङ्करभाष्यम्—यत् प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेनान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन न प्राणिति गन्धवन्न विषयीकरोति, येन चैतन्यात्मज्योतिषावभास्यत्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः प्रणीयते तदेवेत्यादि सर्वं समानम् ॥८॥

अन्वयार्थः—(यत्) जो (प्राणेन) प्राण से (न) नहीं (प्राणिति) सांस लेता है किन्तु (येन) जिसके द्वारा (प्राणः) प्राण (प्रणीयते) अपने कार्य के प्रति प्रेरित किया जाता है। (तद् एव) उसी को ही (त्वम्) तुम (ब्रह्म) परब्रह्म (विद्धि) जानो। (यत्) जिस (इदम्) इस [जगत्] की (उपासते) ये लोग उपासना करते हैं। (इदम्) इसको (न) नहीं।

व्याख्या—इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म बिना श्वास के रहता है। ब्रह्म प्राण की अपेक्षा नहीं रखता है। वह प्राण का विषय नहीं है किन्तु उसके द्वारा प्राण सांस लेने वाला है। शंकराचार्य के अनुसार कई विद्वानों ने प्राण का अर्थ 'गंध' भी लिया है, अर्थात् जो गंधवान् वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त नहीं करता है किन्तु जिसके द्वारा मनुष्य गंध का उपभोग करने के लिए विवश किया जाता है। परब्रह्म इन सबसे सर्वथा भिन्न है। उसके

विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो प्राण का ज्ञाता, प्रेरक, और उसमें शक्ति देने वाला है, जिसकी शक्ति के किसी अंश को प्राप्त करके यह प्रधान प्राण सबको चेष्टायुक्त करने में समर्थ होता है, वही ब्रह्म है। अतः उसी को तुम परब्रह्म समझो और साधारण मनुष्य संसार में जिसकी उपासना परब्रह्म समझकर करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

टिप्पणी—

१. प्राणिति—प्र अन् प्राणने, लट् (अदादि०) प्रथम पुरुष एक०।
२. प्रणीयते—प्र + √नी प्रापणे (कर्मणि) लट् (भ्वादि०) प्रथम पुरुष, एक०—पहुँचाया जाता है, ले जाया जाता है, अर्थात् प्रेरित किया जाता है।

—:०:—

द्वितीयः खण्डः

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम् । त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१॥

शाङ्करभाष्यम्—यदि मन्यसे सुवेद अहं ब्रह्मेति त्वं ततोऽल्पमेव ब्रह्मणो रूपं वेत्थ त्वमिति नूनं निश्चितं मन्यसे इत्याचार्यः । देवेष्वपि सुवेदाहमिति मन्यते यः सोऽप्यस्य ब्रह्मणो रूपं दहरमेव वेत्ति नूनम् । कस्मात् ? अविषयत्वात्कस्यचिद्ब्रह्मणः ।

किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च येनाह दहरमेवेत्यादि ?

वाढम्; अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि, न स्वतः । स्वतस्तु" अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् (क० उ० १.३.१५) इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते ।

यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण सम्बन्धः । न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमल्पं वेत्थ; यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वं तदपि नूनं दहरमेव वेत्थ इति मन्येऽहम् । यदध्यात्मं यदपि देवेषु चोपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्दहरत्वान्न निवर्तते यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तम् अनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म, न तत्सुवेद्यमित्यभिप्रायः ।

यत् एवम् अथ नु तस्मात् मन्ये अद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म । एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्ते उपविष्टः समाहितः सन्, यथोक्ताचार्येण आगममर्थतो विचार्य, तर्कतश्च निर्धार्य, स्वानुभवं कृत्वा, आचार्यसकाशमुपगम्य उवाच—मन्येऽहमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति ॥१॥

अन्वयार्थः—(यदि) यदि (इति) ऐसा (मन्यसे) समझते हो कि (सुवेद) [मैं ब्रह्म को] भली-भान्ति जानता हूँ तो (नूनम्) निश्चय ही (त्वम्) तुम (ब्रह्मणः)

ब्रह्म के (रूपम्) स्वरूप को (दहरमेवापि) नाममात्र ही (वेत्थ) जानते हैं। (त्वम्) तुम (अस्य) इस ब्रह्म के (यत्) जिस [स्वरूप को जानते हो] (च) और (अस्य) इसका (यत्) जो [स्वरूप] (देवेषु) देवताओं में [विदित है वह भी अल्प ही है] (अथ नु) इसलिये (मन्ये) मैं समझता हूँ कि (ते विदितम्) तेरा जानना [ज्ञान] (मीमांस्यमेव) निस्सन्देह विचारणीय है।

व्याख्या—इस मन्त्र में गुरु शिष्य से कहता है कि हे शिष्य! यदि तू यह समझता है कि मैंने ब्रह्म को भली-भान्ति जान लिया है, तो निश्चय ही तूने ब्रह्म को बहुत थोड़ा जाना है क्योंकि उस परब्रह्म का अंशभूत जो जीव है, और मन, बुद्धि, प्राण आदि में जो ब्रह्म का अंश है, जिसके द्वारा वे स्व-स्व कार्यों को करने में समर्थ हैं उसको यदि तू ब्रह्म समझता है तो तेरा यह समझना यथार्थ नहीं है अर्थात् यदि तू यह समझता है कि ब्रह्म मन आदि इन्द्रियों का विषय है तो तेरा यह निश्चय तुच्छ है क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं है।

शंकराचार्य के अनुसार तू केवल आध्यात्मिक उपाधि से परिच्छिन्न हुए इस ब्रह्म के ही अल्प रूप को नहीं जानता बल्कि अधिदैवत उपाधि से परिच्छिन्न हुए इस ब्रह्म के भी जिस रूप को तू देवताओं में जानता है वह भी निश्चय तू इसके अल्प रूप को ही जानता है।

अब विचारणीय यह है कि क्या ब्रह्म के छोटे बड़े अनेक रूप हैं। यहाँ पर गुरु ने शिष्य से अल्प रूप की चर्चा की है। वस्तुतः नामरूपात्मक उपाधि के किये हुए तो ब्रह्म के अनेक रूप हैं किन्तु ये स्वाभाविक रूप नहीं हैं। तो वह अशब्द, अस्पर्श, रसहीन, गन्धरहित आदि है। वह जानने वालों के लिए अज्ञात और न जानने वालों के लिये ज्ञात है।

इस मन्त्र का यह भाव हो सकता है तुम उस ब्रह्म के किस प्रकार के अंश हो तथा देवताओं में उस परब्रह्म का कौन सा स्वरूप विद्यमान है, अर्थात् जीव और परब्रह्म का क्या सम्बन्ध है, यह विचारणीय है। उस ब्रह्म का सामर्थ्य इतना अगाध है कि कोई भी व्यक्ति उसका आकलन नहीं कर सकता है।

इसीलिये ब्रह्म को अचिन्त्य, अतर्क्य, अज्ञेय, अदृष्ट आदि नामों से अभिहित किया गया है। अतः गुरु शिष्य से कहता है कि मैं समझता हूँ कि

तुम्हें ब्रह्म के स्वरूप को जानने के लिये और विचार करना होगा। इस मन्त्र का सार यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म सभी उपाधियों से मुक्त, नित्य शान्त अनन्त अद्वैत है। वह किसी के द्वारा भी भली-भांति नहीं जाना जा सकता है। अतः उसको अपने ज्ञान पर पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिये।

शंकराचार्य के अनुसार 'मन्ये विदितम्' शिष्य के वचन हैं। आचार्य के यह कहने पर कि ब्रह्म तेरे लिये विचारणीय है शिष्य ने एकान्त में बैठकर समाहित होकर आचार्य के बताये हुए आगम को अर्थ सहित विचार कर तर्क द्वारा निश्चय कर आत्मानुभव करने के अनन्तर आचार्य के समीप आकर कहा कि मैं ऐसा मानता हूँ कि मुझे ब्रह्म विदित हो गया है।

टिप्पणी—

१. मन्यसे—√मन् ज्ञाने (दिवादि) लट् मध्यम पुरुष एक०।
२. सुवेद—सुष्ठु वेद, यह क्रियाविशेषण से समास है। वेद—√विद् ज्ञाने (अदादि), लट् प्रथम पुरुष एक०।
३. दहरम्—अल्प, कुछ विद्वान् इसे 'दभम्' पढ़ते हैं।
४. वेत्थ—√विद्, लट् मध्यम पुरुष एक०।
५. मीमांस्यम्— √मान् जिज्ञासायाम् (भ्वादि) सन्, यत्।
६. विदितम्— √विद्, क्त।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥२॥

शाङ्करभाष्यम्—अहेत्यवधारणार्थो निपातो नैव मन्य इत्येतत्। यावदपरिनिष्ठितं विज्ञानं तावत्सुवेद सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति विपरीतो मम निश्चय आसीत्। स उपजगाम भवद्भिर्विचालितस्य, यथोक्तार्थमीमांसाफलभूतात् स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपात्सम्यक् प्रत्ययाद्विरुद्धत्वात्। अतो नाहं मन्ये सुवेदेति।

यस्माच्चैतन्नैव न वेद नो न वेदेति मन्य इत्यनुवर्तते, अविदितब्रह्मप्रतिषेधात्। कथं तर्हि मन्यसे इत्युक्त आह—वेद च। चशब्दाद्वेद च न वेद चेत्यभिप्रायः विदिताविदिताभ्यामन्यत्वाद्ब्रह्मणः तस्मान्मया विदितं ब्रह्मेति मन्य इति वाक्यार्थः।

अथवा वेद चेति नित्यविज्ञानब्रह्मस्वरूपतया नो न वेद वेदैव चाहं स्वरूपविक्रियाभावात् स्वविशेषविज्ञानं च पराध्यस्तं न स्वत इति परमार्थतो न च वेदेति ।

यो नोऽस्माकं मध्ये स एव तद्ब्रह्म वेद नान्यः । उपास्यब्रह्मवित्त्वादतोऽन्यस्य यथाहं वेदेति । वेद चेति पक्षान्तरे ब्रह्मवित्त्वं निरस्यते ।

अन्वयार्थः—(अहम्) मैं [उस ब्रह्म को] (सुवेद) अच्छी प्रकार जानता हूँ (इति) ऐसा (न) नहीं (मन्ये) समझता हूँ (च) और [उस ब्रह्म को] (न) नहीं (वेद) जानता हूँ (इति ऐसा भी (न) नहीं (वेद) समझता हूँ । (यः) जो (नः) हममें से (तत्) उस ब्रह्म को (वेद) जानता है (तत्) वही (वेद) जानता है (इति) कि वह (न) न तो उसे (न) नहीं (वेद) जानता है (च) और (वेद) जानता है ।

व्याख्या—गुरु के उपदेश पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के अनन्तर शिष्य उनके सामने अपना विचार प्रकट करता है कि मैं उस ब्रह्म को भलीभांति जान गया हूँ ऐसा भी नहीं मानता हूँ क्योंकि ब्रह्म इन्द्रिय के माध्यम से नहीं जाना जा सकता । इसलिये उसका पूर्ण ज्ञान होना असम्भव है और मैं उसे नहीं जानता ऐसा भी मैं मानने को तैयार नहीं हूँ क्योंकि कम से कम मैं उसे नहीं जानता ।

इस मन्त्र में ज्ञान और अज्ञान की विलक्षण युगपत् स्थिति और समन्वय वर्णित किये हैं । हम लोगों में से वे जो उसको इस प्रकार समझते हैं कि हम ब्रह्म को जानते हैं, वे ठीक नहीं और जो यह समझते हैं कि हम ब्रह्म को नहीं जानते हैं, वे भी ठीक नहीं समझते हैं क्योंकि ब्रह्म ज्ञात तथा अज्ञात से भिन्न है । वस्तुतः जब जानने और न जानने की बात कही जाती है तो वह हमारी सीमित इन्द्रियों के प्रसंग में होती है । दूसरी ओर ब्रह्म इन्द्रियज्ञान से परे है ।

इस मन्त्र का सार यह है कि यदि शिष्य समझता है कि मैं ब्रह्म को भली-भांति जानता हूं तो वह ठीक नहीं समझता क्योंकि ज्ञाता चैतन्य होता है और ज्ञेय जड़ तो ब्रह्म को जड बनाया और चैतन्य आप बना । किन्तु यह श्रुति स्मृति विरुद्ध है । यदि यह कहा जाये कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ तो भी ठीक नहीं क्योंकि जब ब्रह्म अज्ञात हो तब यह कहा जा सकता है किन्तु

ब्रह्म तो सदा पूर्ण, सर्वत्र व्यापक है, वह अज्ञात कैसे हो सकता है। जो अपना रूप है, उस विषय में जानना और न जानना दोनों ही नहीं हो सकते हैं। ब्रह्म अनन्त है और जीव अल्प है अतः उसका ज्ञान सीमित हो सकता है। वह ब्रह्म का कुछ अल्प सा ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पूर्णज्ञान नहीं। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म को जानता भी है और नहीं भी जानता है। वह उसे जानता है इन्द्रियों द्वारा अज्ञेय तत्त्व के रूप में और नहीं जानता है इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय भौतिक तत्त्व के रूप में।

टिप्पणी—

१. नाह—स्वामी शंकराचार्य के वाक्य भाष्य में 'नाह' पाठ है। अन्य विद्वानों ने 'नाहम्' पाठ लिया है। वैदिक भाषा में 'अह' अव्यय है और 'निस्सन्देह निश्चय' का द्योतक है। अतः अर्थ की दृष्टि से इस पाठ में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि 'मैं' का भाव 'मन्ये' से प्राप्त हो जाता है।

२. नो—यह निषेधार्थक अव्यय है और 'न' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥३॥

शाङ्करभाष्यम्—यस्य ब्रह्मविदः अमतम् अविज्ञातम् अविदितं ब्रह्मेतिमतम् अभिप्रायः निश्चयः, तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मेत्यभिप्रायः। यस्य पुनः मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयः, न वेदैव सः—न ब्रह्म विजानाति सः।

अविज्ञातं विजानतामिति, अविज्ञातम् अमतम् अविदितमेव ब्रह्म विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत्। विज्ञातं विदितं ब्रह्म अविजानताम् असम्यग्दर्शिनाम्, इन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवात्मदर्शिनामित्यर्थः, न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम्। न हि तेषां विज्ञातम् अस्माभिर्ब्रह्मेति मतिर्भवति। इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्वात्मदर्शिनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भात् बुद्ध्याद्युपाधेश्च विज्ञातत्वाद् विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतोऽसम्यग्दर्शनं पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते विज्ञातमविजानतामिति। अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धोऽविज्ञातमित्यादिः ॥३॥

अन्वयार्थः—(यस्य) जिसका [ब्रह्म] (अमतम्) न जाना हुआ है (तस्य) उसका ही ब्रह्म (मतम्) जाना हुआ है। (यस्य) जिसका [वह ब्रह्म] (मतम्) जाना हुआ है (सः) वह [उस ब्रह्म को] (न) नहीं (वेद) जानता है। जानने वालों के लिए [ब्रह्म] (अविज्ञातम्) न जाना हुआ है और (अविजानताम्) न जानने वालों के लिए [वह ब्रह्म] (विज्ञातम्) जाना हुआ है।

व्याख्या—इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य यह समझता है कि ब्रह्म को नहीं जाना है उसने ही वास्तव ब्रह्म को जाना है और जो यह मानता है कि मैंने ब्रह्म को जान लिया है, उसने उस ब्रह्म को वास्तव में नहीं जाना है, क्योंकि परब्रह्म ज्ञान से परे है। जितने भी ज्ञा । के साधन हैं उनमें से एक भी ऐसा नहीं जो ब्रह्म तक पहुँच सके इसलिए कहा गया है कि जानने वालों के लिए ब्रह्म अज्ञात है तथा न जानने वालों के लिए ज्ञात है अर्थात् जिन्हें ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ बोध हो गया है, वे तो उसे मन बुद्धि आदि से अग्राह्य होने के कारण अज्ञात अर्थात् अज्ञेय ही मानते हैं, किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे मन, बुद्धि को ही आत्मा समझने के कारण ब्रह्म का उनके साथ अभेद समझकर मानने लगते हैं कि हमने ब्रह्म को जान लिया है।

इस मन्त्र का सार यह है कि जो ब्रह्म को इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं मानते हैं, वे ब्रह्म को जानते हैं और जो यह समझते हैं कि ब्रह्म को इन्द्रियों से जाना जा सकता है, वे ब्रह्म को नहीं जानते हैं। जो ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद को मानते हैं, वे ब्रह्म को नहीं जानते हैं क्योंकि ब्रह्म, देश, काल और वस्तु की सीमाओं से अछूता है किन्तु जो ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद को नहीं मानते हैं, वे ब्रह्म को जानते हैं।

जो ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को साक्षात् कर लेते हैं, उनमें किंचिन्मात्र भी यह अभिमान नहीं रह जाता है कि हमने ब्रह्म को जान लिया है वरन् वे तो परब्रह्म के अनन्त महिमा महार्णव में निमग्न हुए यही समझते हैं कि परमेश्वर स्वयं अपने को जानता है, दूसरा कोई भी ऐसा नहीं जो उसका पार पा सके। किन्तु दूसरी ओर जो यह मानता है कि मैंने परब्रह्म को जान लिया है, परमेश्वर मेरे लिए ज्ञेय है, वह सर्वथा भ्रम में है क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार ज्ञान का विषय नहीं है।

टिप्पणी—

१. अमतम्—न मतम् इति अमतम्—नञ् तत्पुरुष। मन् अवबोधने (तनादि)।

२. विजानताम्—वि जन्, शतृ०, पुं०, षष्ठी बहु०।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥

शाङ्करभाष्यम्—प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम्। सर्वे बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते। सर्वैः प्रत्यया विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रति बुध्यते। सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते, नान्यद्द्वारमन्तरात्मनो विज्ञानाय।

अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं तत् सम्यग्दर्शन-मित्यर्थः सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजननापायवर्जितदृक्स्वरूपता नित्यत्वं विशुद्धस्व-रूपता नित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्, लक्षणभेदाभावाद् व्योम्न इव घटगिरिगुहादिषु।

आत्मतत्त्वेन प्रत्यगात्मानमैक्षदिति च काठके। अमृतत्वं हि विन्दते' इति हेतुवचनम् विपर्यये मृत्युप्राप्तेः। विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः प्रारभत इत्यात्म-विज्ञानममृतत्वनिमित्तम् इति युक्तं हेतुवचनममृतत्वं हि विन्दत इति।

कथं पुनर्यथोक्तयात्मविद्ययामृतत्वं विन्दत इत्यत आह—आत्मना स्वेन रूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यम्। धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुम् अनित्यवस्तुकृतत्वात् आत्मविद्याकृतं तु वीर्य-मात्मनैव विन्देत्, नान्येन इत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम्। यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दते, अतः विद्यया आत्मविषयया विन्दतेऽमृतम् अमृतत्वम्। नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः (मु० उ० ३।२।४) इत्याथर्वणे। अतः समर्थो हेतुः अमृतत्वं हि विन्दत इति ॥४॥

अन्वयार्थः—[जिसने उस ब्रह्म को] (प्रतिबोधविदितम्) प्रत्येक बोध अर्थात् ज्ञान में जो जाना हुआ होता है अर्थात् जिसके द्वारा प्रत्येक ज्ञान का बोध होता है (मतम्) ऐसा जाना (है) निश्चय ही [वह] (अमृतत्वं) अमरत्व को (विन्दते] प्राप्त करता है। (आत्मना) आत्मज्ञान के द्वारा (वीर्यं) सामर्थ्य को (विन्दते) प्राप्त करता है और (विद्यया) विद्या के द्वारा (अमृतम्) अमरत्व को प्राप्त करता है।

व्याख्या—जिस ज्ञान के द्वारा प्रत्येक वस्तु का बोध होता है और जिस ज्ञान के बिना वस्तु के होते हुए भी ज्ञान नहीं होता, उस परब्रह्म को जो मनुष्य ज्ञान स्वरूप समझता है, वही अमृतत्व को प्राप्त करता है। अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अन्तःकरण में धारणा, ध्यान, समाधि रूप संयम के द्वारा बुद्धि में उत्पन्न होने वाली तरंगों से उन्हीं बुद्धि की लहरों का ग्रहण कर प्रतिबोध अथवा अन्तःप्रेरण कहाता है। उसे निर्मल शुद्ध प्रवाह से जाना गया ब्रह्म जान लिया मानते हैं। आत्मा के ज्ञान से पुरुष मोक्ष को प्राप्त कर जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। आत्मना अर्थात् अपने स्वरूप के ज्ञान स वीर्य, बल, सामर्थ्य प्राप्त करता है। धन, मन्त्र, तप आदि से प्राप्त होने वाला वीर्य अनित्य वस्तु का किया हुआ होने से मृत्यु का पराभव करने में समर्थ नहीं है। किन्तु आत्मविद्या से प्राप्त होने वाला वीर्य किसी अन्य साधन से प्राप्त होने वाला नहीं है। अतः वही वीर्य मृत्यु का पराभव कर सकता है। विद्या से अनात्मा के अध्यारोप तथा माया और अन्तःकरण के कारण प्राप्त हुए अज्ञान का नाश होता है, अतः वही अमृत अर्थात् अविनाशी है। इसलिए आत्मसम्बन्धिनी विद्या से ही अमरत्व प्राप्त होता है। अथर्ववेद के मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" अर्थात् यह आत्मा बलहीन पुरुष को प्राप्त होने योग्य नहीं है। इसलिए पूर्वोक्त आत्मज्ञान के उपायों से बल और इसके पश्चात् अमरत्व की प्राप्ति करनी चाहिए।

टिप्पणी—

१. **प्रतिबोधविदितम्—बोधे बोधे इति प्रतिबोधम् अव्ययीभाव प्रतिबोधं विदितम्।** प्रत्येक ज्ञान के विषय में जाना गया या अनुभव किया गया।

२. अमृतत्वम्—अम्+ऋत के समस्त रूप से त्व प्रत्यय ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

शाङ्करभाष्यम्—इह एव चेत् मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन् यदि अवेदीद् आत्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेण, अथ तदा अस्ति सत्यं मनुष्यजन्मन्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वा सद्भावो वा परमार्थता वासत्यं विद्यते । न चेदिहावेदीदिति, न चेद् इह जीवंश्चेद् अधिकृतः अवेदीत् न विदितवान्, तदा महती दीर्घा अनन्ता विनष्टिः विनाशनं जन्मजरामरणादि-प्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगतिः ।

तस्मादेवं गुणदोषौ विजानन्तो ब्राह्मणाः भूतेषु-भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च एकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय साक्षात्कृत्य धीराः धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभावलक्षणादविद्यारूपादस्माल्लोकाद् उपरम्य सर्वात्मैक-भावमद्वैतमापन्नाः सन्तः अमृता भवन्ति ब्रह्मैव भवन्तीत्यर्थः ॥५॥

अन्वयार्थः—(चेत्) यदि [उस ब्रह्म को] (इह) यहां, इस जन्म में ही (अवेदीत्) जान लिया (अथ) (तो सत्यम्) सत्य (अस्ति) है (चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (न) नहीं (अवेदीद्) जाना तो (महती) महान् (विनष्टिः) विनाश [हो जाएगा]। (धीराः) बुद्धिमान् मनुष्य (भूतेषु भूतेषु) प्रत्येक प्राणी में (विचित्य) विचारकर (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (प्रेत्य) जाकर (अमृताः) अमर (भवन्ति) हो जाते हैं ।

व्याख्या—मनुष्य यदि ब्रह्म को इस जन्म में ही जान लेता है तो उसका जन्म सफल रहता है अन्यथा महान विनाश हो जाएगा । ब्रह्म की प्राप्ति मनुष्य शरीर में ही हो सकती है, दूसरे शरीर में नहीं । ऐतरेय उपनिषद् में भी कहा गया है कि गाय, अश्व के शरीर यथेष्ट न होने पर परमेश्वर ने विवेक सम्पन्न पुरुष की रचना की । मनुष्य शरीर परमेश्वर की श्रेष्ठ तथा सुन्दर रचना है इसलिए इसे देवदुर्लभ माना गया है । परब्रह्म को जानने और पाने का काम इस मनुष्य शरीर में ही किया जा सकता है दूसरे शरीर में नहीं, अतः मनुष्य को अपना अमूल्य समय व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए, वरन् उसका सदुपयोग करना चाहिए । इसलिए मनुष्य यदि इसी शरीर में ब्रह्म को जान

लेता है तो उसके मनुष्य जन्म की सत्यता है और यदि इसी शरीर में 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार न कर सका तो महान् विनाश को प्राप्त होगा अर्थात् अनन्तकाल तक जन्म-मरणादि से छुटकारा नहीं पा सकेगा इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य प्रत्येक प्राणी में ब्रह्म की सत्ता का विचार करके अविद्यारूपी अभिमान से निवृत्त होकर इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं वे अपने जीवन को सार्थक करते हैं। मु० उ० ३।२।६) में भी कहा गया है स यो ह वै तत्परब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति अर्थात् जो पुरुष निश्चयपूर्वक उस परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।' इसलिए इस लोक और इस जन्म में ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में कल्याण है। यह ब्रह्मज्ञान सब सत्ताओं में ब्रह्म का अनुभव करने से होता है। अन्यथा पुनः पुनः मृत्यु रूप संसार के प्रवाह में वहना पड़ेगा—

पुनरपि मरणं पुनरपि जननं पुनरपि जननीजठरे पतनम्

स्वामी शंकराचार्य ने वाक्यभाष्य में इस मन्त्र में प्रयुक्त "प्रतिबोध विदितम्' के तीन अर्थ किये हैं—

१. बुद्धि जनित सम्पूर्ण प्रतीतियां तपे हुए लोहे के समान नित्य विज्ञान-स्वरूप आत्मा से व्याप्त रहने के कारण उस विज्ञान स्वरूप से ही अवभासित हैं तथा उनसे पृथक् उनका अवभासक आत्मा अग्नि के समान उनसे सर्वथा उपलब्ध होता है। अतः वे बौद्ध प्रत्यय आत्मा की उपलब्धि में द्वारस्वरूप हैं। इसलिए प्रत्येक बौद्ध प्रत्यय के अवभास में जो प्रत्यगात्मा स्वरूप से जाना जाता है, वही ब्रह्म है, वही माना हुआ अर्थात् ज्ञान है तथा वही सम्यग्ज्ञान के सहित प्रत्यगात्मा का ज्ञान है। विषय ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है।

२. प्रतिबोधिविदितं मतम्' इस वाक्य का ऐसा अर्थ समझना चाहिए कि स्वप्न से जाग पड़ने के समान जिसके सम्पूर्ण विपरीत संस्कारों का एक बार ही बोध हो गया है, उसी से जो जाना जाता है वही मत अर्थात् ज्ञान होता है।

३. गुरु का उपदेश ही प्रतिबोध है, उससे जाना हुआ ही मत (माना हुआ) सोने से जागा हुआ तथा गुरु द्वारा जगाया हुआ, दोनों स्थानों पर ही प्रतिबोध शब्द का प्रयोग होता है।

तीन अर्थ देने के उपरान्त स्वामी जी का कथन है कि पूर्वं तु यथार्थम् अर्थात् इन तीनों में से पहला अर्थ सत्यविद्या द्वारा प्राप्त तत्त्व प्रतीति अथवा सामर्थ्य ही ठीक है।

टिप्पणी:—

१. अवेदीत्—विद् ज्ञाने (अदादि), लुङ् प्रथम पुरुष, एकवचन।
२. विनष्टिः—वि+नश् अदर्शने (दिवादि) क्तिन्।
३. विचित्य—वि+चि चयने (स्वादि०)

तृतीयः खण्डः

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ॥१॥

शाङ्करभाष्यम्—ब्रह्म ह इत्यैतिह्यार्थः। ब्रह्म यथोक्तलक्षणं वरं ह किल देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवत् देवानामसुराणां च संग्रामेऽसुराञ्जित्वा जगदरातीनीश्वरसेतुभेतॄन् देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेम्ने। ब्रह्मण इच्छानिमित्तो विजयो देवानां बभूवेत्यर्थः। यज्ञादिलोकस्थित्यपहारिष्व-सुरेषु पराजितेषु देवा वृद्धिं पूजां वा प्राप्तवन्तः ॥१॥

अन्वयार्थः—(ह) ऐसा कहा जाता है कि (ब्रह्म) परब्रह्म ने (देवेभ्यः) देवताओं के लिए (विजिग्ये) विजय प्राप्ति की। (तस्य) उस (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (विजये) विजय पर (देवाः) देवताओं ने (अमहीयन्त) गौरव को प्राप्त किया।

व्याख्याः—इस खण्ड में एक आख्यान के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि समस्त शक्तियाँ ब्रह्म से अनुप्राणित हैं। यदि ब्रह्म अपनी शक्ति को वापिस खींच ले तो अग्नि आदि दिव्य शक्तियाँ भी अशक्त हो जाती हैं।

ऐसा कहा जाता है कि देवताओं और असुरों में संग्राम हुआ। उसमें परब्रह्म की शक्ति से देवताओं ने विजय प्राप्ति की। उस विजय में अग्नि आदि देवगुण गौरव को प्राप्त हुए अर्थात् जो महिमा देवताओं की हो गई उसका कारण ब्रह्म थे, देवता नहीं थे, किन्तु महिमा देवताओं को प्राप्त हुई।

हम देखते हैं कि हमारे दैनन्दिन जीवन में भी यह दैवासुर संग्राम चलता रहता है और अज्ञानवश अपनी छोटी सी सफलता पर भी हमें अपनी इन्द्रियों पर गर्व हो जाता है। हम भूल जाते हैं कि हमारी सफलता का आधार पर-मात्मा है।

टिप्पणी—

१. विजिग्ये—वि+जि जये अभिभवे च, (भ्वादि०) लिट् प्रथम पुरुष, एक० वि+जि। आत्मनेपद। वि पराभ्यां जेः)।

२. अमहीयन्त—(मह् पूजायाम् (भ्वादि०) लङ् प्रथम पुरुष, बहु०।

त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ।२।

शाङ्करभाष्यम्—तदा आत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेः जगतः स्थितिं चिकीर्षोः अयं जयो महिमा चेत्यजानन्तः ते देवाः ऐक्षन्त ईक्षितवन्तः अग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतोऽस्माकमेवायं विजयः अस्माकमेवायं महिमा अग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते, नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति।

एवं मिथ्याभिमानेक्षणवतां तत् ह किल एषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञातवत् ब्रह्म। सर्वेक्षितृ हि तत् सर्वभूतकरणप्रयोक्तृत्वात् देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य दैवासुरवद्देवा मिथ्याभिमानात्पराभवेयुरिति तदनुकम्पया देवान्मिथ्याभिमानापनोदनेनानुगृह्णीयामिति तेभ्यः देवेभ्यः हि किलार्थाय प्रादुर्बभूव स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव प्रादुर्भूतवत्। तत् प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तः देवाः किमिदं यक्षं पूज्यं महद्भूतमिति ॥२॥

अन्वयार्थः—(ते) उन्होंने (ऐक्षन्त) देखा समझा कि (अयम्) यह (विजय अस्माकम्) हमारी (एव) ही है। (अयम्) यह (महिमा) गौरव (अस्माकम्) हमारा (एव) ही है। (ह) निःस्सन्देह (तत्) उस ब्रह्म ने (एषाम्) उन देवताओं को (विजज्ञौ) [अभिमानी] जाना। (ह) इसलिए (तेभ्यः) उनके लिये (प्रादुर्बभूव) प्रकट हुआ। [वे देव] (तत्) उस ब्रह्म को (न) नहीं (व्यजानत) जाने (इति) कि (इदम्) यह (यक्षम्) पूजनीय महान् प्राणी (किम्) कौन है।

व्याख्या—परब्रह्म ने देवताओं पर कृपा करके उन्हें शक्ति प्रदान की जिसके फलस्वरूप उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्ति की। यह विजय वस्तुतः परब्रह्म की शक्ति को न जानते हुए ईश्वर की महिमा को अपनी ही महिमा

समझ बैठे और अभिमानवश यह मानने लगे कि हम अत्यन्त शक्तिशाली हैं तथा हमने अपने ही पौरुष से असुरों को पराजित किया है।

आत्मा को अग्नि आदि रूपों से परिच्छिन्न मानने वाले देवता सोचने लगे कि हम लोगों की यह विजय हुई है तथा इस विजय की फलभूत अग्नित्व, वायुत्व तथा इन्द्रत्व आदि महिमा भी हमारी है। देवताओं के इस मिथ्याभिमान को परब्रह्म जान गया क्योंकि समस्त जीवों के अन्तःकरणों का प्रेरक होने के कारण परब्रह्म सबका साक्षी है। अतः देवताओं के मिथ्याभिमान को जानकर परब्रह्म देवताओं के कल्याण के लिए उनके सम्मुख अपनी योगमाया के प्रभाव से एक विशेष ही रूप में प्रकट हुए। परब्रह्म को देवतागण न जान पाये कि यह यक्ष अर्थात् महान् प्राणी कौन है।

टिप्पणी—

१. ऐक्षन्त—√ईक्ष् दर्शने (भ्वादि०), लङ् प्रथम पुरुष, बहु०।
२. विजज्ञौ—वि+√ज्ञा अवबोधने (क्र्यादि०) लिट् प्रथम पुरुष, एक०।
३. प्रादुर्बभूव—प्र, आ, दुर्,√भू सत्तायाम् (भ्वादिः) लिट् प्रथम पुरुष एक०।
४. व्यजानन्त—वि+√ज्ञा, लङ्, प्रथम पुरुष, एक०। शंकर ने इसे वैदिक आर्ष प्रयोग मानकर बहुवचन रूप में अर्थ किया है।
५. यक्षम्—√यक्ष पूजायाम् (चुरादि) से निष्पन्न है।

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ॥३॥

शाङ्करभाष्यम्—ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवः अग्निम् अग्रजातवेदस सर्वज्ञकल्पम् अब्रुवन् उक्तवन्तः। हे जातवेदः एतद् अस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व त्वं नस्तेजस्वी किमेतद्यक्षमिति ॥३॥

अन्वयार्थः—(ते) उन [देवताओं ने] (अग्निम्) अग्नि को (अब्रुवन्) कहा, (जातवेदः) हे जातवेद [अर्थात् सब वस्तुओं को जानने वाले] (एतद्) इसको (विजानीहि) जानो (इति) कि (इदम्) यह (यक्षम्) पूजनीय महान् प्राणी (किम्) कौन है। [तदनन्तर अग्नि ने उत्तर दिया (इति) कि (तथा) बहुत अच्छा!

व्याख्या—उन इन्द्रादि देवताओं ने सर्वप्रथम अग्नि को बुलाकर कहा कि यह पता लगाकर लाओ कि यह महान् प्राणी कौन है। अग्नि सब देवताओं में प्रमुख है। सबसे पहले अग्नि ही आता है—**अग्निरवमो देवतानाम्**' (ऐ० ब्रा०) अग्नि की संज्ञा (अग्र, नी) आगे ले जाने से होती है अर्थात् जो देवताओं के आगे-आगे चलता है। अतः देवताओं का नायक होने के कारण अग्नि को ही सर्वप्रथम भेजा गया। ब्राह्मणों में अग्नि को देवताओं का नेता (सेनानी) कहा गया है। श० ब्रा० ५।३।१।१ "**अग्निर्वै देवतानामनीकं सेनायां वै सेनानी-रनीकम्। तस्मादग्नयेऽनीकवते**"।

आचार्य शाकपूणि ने अग्नि के तीन कार्य देखकर निम्नलिखित निर्वचन किये हैं—

यह गतिशील है (इ जाना), प्रकाशशील (अञ्ज् व्यक्त करना) या दहन-शील (√दह जलाना) तथा हविस् देवताओं तक ले जाता है (√नी ले जाना।

अग्नि जहाँ भौतिक अग्नि के देवताकरण की पद्धति में प्रमुख नाम है, वहीं ऋषियों द्वारा कल्पित भौतिक अग्नि के गुणवाचक नामों में जातवेदस् नाम प्रमुख है। यास्क ने जातवेदस् की व्युत्पत्ति 'जातानि वेद' से की है। अग्नि सब उत्पत्तिशील द्रव्यों को जानता है अर्थात् जातवेदस् अग्नि की सर्व-ज्ञता को बतलाता है। **जाते-जाते विद्यत इति वा** से भी यास्क ने जातवे-दस् की व्युत्पत्ति मानी है अर्थात् जो प्रत्येक जात 'अर्थात् उत्पत्तिशील द्रव्य में विद्यमान है। जात √विद् (सत्तार्थक) से निष्पन्न है। अग्नि के इन्हीं गुणों के द्वारा देवताओं ने सर्वप्रथम अग्नि को ही यक्ष का पता लगाने के लिए भेजा। ऐतरेयोपनिषद् के साक्ष्य—अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् (१।४) के आधार पर इन्द्रियों के सन्दर्भ में अग्नि शब्द से वाणी (वागीन्द्रिय) ही अभीष्ट है।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४॥

शाङ्करभाष्यम्—तथा अस्तु इति तद् यक्षम् अभि अद्रवत् तत्प्रति गत-वानग्निः। तं च गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत्समीपेऽप्रगल्भत्वात्तूष्णीभूतं तद्यक्षम् अभ्यवदद अग्निं प्रति अभाषत कोऽसीति। एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निः अब्रवीत

अग्निर्वै अग्निर्नामाहं प्रसिद्धो जातवेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतयात्मानं श्लाघयन्निति ।।४।।

अन्वयार्थः—[वह अग्नि] (तत्) उस (यक्ष) के (अभ्यद्रवत्) पास शीघ्रता पूर्वक गया। (यक्ष ने) (तम्) उस (अग्नि) को (अभ्यवदत्) पूछा (इति) कि [तुम] (कः) कौन (असि) हो (अग्नि ने] (अब्रवीत्) कहा (इति) कि (वै) निश्चय ही (अहम्) मैं (अग्निः) अग्नि अर्थात् देवताओं का नायक (अस्मि) हूँ। (वै) निस्सन्देह (अहम्) मैं (जातवेदस् अस्मि) अग्नि हूँ।

व्याख्या—देवताओं के यह कहने पर कि तुम इस यक्ष का पता लगाकर लाओ कि यह महान् पूजनीय प्राणी कौन है, अग्नि शीघ्रतापूर्वक यक्ष के पास पहुँचा, किन्तु अग्नि के प्रश्न करने से पहले ही यक्ष ने पूछा कि तुम कौन हो। अग्निदेव ने सोचा कि हमें तो सभी जानते हैं। इसलिए अभिमान के साथ उत्तर दिया कि मैं अग्नि हूँ अर्थात् सब वस्तुओं को गति देने तथा प्रकाशित करने की क्षमता रखता हूँ और निश्चय से मैं जातवेदस् हूं अर्थात् सब उत्पत्तिशील द्रव्यों को जानता हूं तथा जगत् के प्रत्येक उत्पत्तिशील द्रव्य में विद्यमान हूँ। इस प्रकार अग्नि ने दो नामों से प्रसिद्ध होने के कारण अपनी प्रशंसा की।

टिप्पणी—

१: अभ्यद्रवत्—अभि + √द्रु गतौ (भ्वादि) लङ् प्रथम पुरुष एक०।

२. अभ्यवदत्—अभि √वद्, लङ् लकार, प्रथम पुरुष एक०।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ।।५।।

शाङ्करभाष्यम्—एवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत् तस्मिन् एवं प्रसिद्धगुणनामवति त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यम् इति। सोऽब्रवीद् इदं जगत् सर्वं दहेयं भस्मीकुर्यां यद् इदं स्थावरादि पृथिव्याम् इति। पृथिव्यामित्युपलक्षणार्थम्, यतोऽन्तरिक्षस्थमपि दह्यत एवाग्निना।५।

अन्वयार्थः—[यक्ष ने अग्नि से पूछा] (इति) कि (तस्मिन्) ऐसे (त्वयि) तुझमें (किम्) क्या (वीर्यम्) सामर्थ्य है। [अग्नि ने उत्तर दिया] (इति) कि (इदम्) यह (यत्) जो कुछ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर है (इदम्) इस (सर्वम्) सब को (अपि) भी (दहेयम्) जला सकता हूं।

व्याख्या—जब अग्नि ने अभिमान से कहा कि मैं अग्नि हूँ असर्वज्ञ हूँ, इस बात को सभी जानते हैं। आश्चर्य है कि आप मुझे नहीं जानते। अग्नि के ऐसे वचन सुनकर यक्ष ने पूछा कि इस प्रकार प्रसिद्ध जो आप हैं आपका सामर्थ्य क्या है, अर्थात् आप क्या कर सकते हैं। इस प्रश्न को सुनकर अग्नि ने पुनः उसी प्रकार गर्व से कहा कि मैं पृथिवीस्थ सब पदार्थों को जला सकता हूँ। अर्थात् पृथिवी पर जो यह चराचर जगत् है, इस सबको भस्म कर सकता हूँ। आचार्य शाकपूणि अग्नि के 'ग्' को √अञ्ज् प्रकाशित करना अथवा √दह् जलाना का विकार मानते हैं। अतः अग्नि में इतना सामर्थ्य है कि वह जगत् की प्रत्येक वस्तु को क्षण मात्र में जला सकता है।

टिप्पणी—

१. दहेयम्—√दह् भस्मीकरणे (भ्वादि०) विधिलिङ् उत्तम पुरुष, एक०।

तस्मै तृणं निदधावेतदहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।६।

शाङ्करभाष्यम्—तस्मै एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुराग्नेः स्थापितवत्। ब्रह्मणा 'एतत् तृणमात्रं ममाग्रतः, न चेदसि दग्धुं समर्थः, मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्र' इत्युक्तः तत् तृणम् उपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान् सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन। गत्वा तत् न शशाक नाशकद्दग्धुम्।

सः जातवेदाः तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञः तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान्प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान्। न एतम् यक्षम् अशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतः यदेतद्यक्षमिति ।६।

अन्वयार्थः—[उस यक्ष ने] (तस्मै) उस अग्नि के सम्मुख (तृणम्) एक तिनका (निदधौ) रखा [और कहा] (इति) कि (एतद्) इसको (दह) जला दो। [वह अग्नि] (सर्वजवेन) अपनी पूरी शक्ति से (तत्) उस तिनके के (उपप्रेयाय) पास पहुँचा, [किन्तु] [तत्] उस तिनके को (दग्धुम्) जलाने में (न शशाक) समर्थ न हो सका। (सः) वह [अग्निः] (ततः) वहीं से (एव) हि (निववृते) लौट आया (इति) कि [मैं] (यत्) जो (एतत्) यह (यक्षम्) यक्ष है (एतद्) यह (विज्ञातुम्) जानने में (न अशकम्) समर्थ न हो सका।

व्याख्या—अग्नि के इन वचनों को सुनकर कि पृथिवी पर जो कुछ भी है, मैं उस सबको जला सकता हूँ यक्षरूप परब्रह्म ने अग्नि के सामने एक तिनका रखा और कहा कि यदि तुम इस तिनके को जला दोगे तो तुम्हारी शक्ति का पता मुझे लग जाएगा। अग्निदेवता ने मानो इसको अपना अपमान समझा और सहज ही उस तिनके के पास पहुँचकर उसे जलाना चाहा जब तिनका नहीं जला तो उन्होंने उसे जलाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी, किन्तु अग्निदेवता फिर भी उस छोटे से तिनके को नहीं जला पाए। अग्नि की शक्ति को देखते हुए एक तिनका बहुत ही तुच्छ वस्तु है। यदि अग्नि इसको जला सका तब तो अग्नि देवता में अपनी शक्ति है तथा देवों की विजय उनकी अपनी है और नहीं तो उनमें दिखाई देने वाली शक्ति ब्रह्म की है। यही इसका भाव प्रतीत होता है। इस प्रकार यक्ष ने एक तिनके को जलाने के काम में विफल हुए अग्नि को बोध करा दिया कि वह शक्तिहीन है। किसी भी सीमातक व्यक्ति के दर्प को पहले बहुत बढ़ाकर फिर उसे चूर्ण करने का अद्भुत मनोवैज्ञानिक उपाय इस कथा में पता चलता है। इस प्रकार उस तिनके को जलाने में असमर्थ वह अग्नि लज्जित होकर देवताओं के पास लौट आया और बोला कि मैं यह नहीं जान पाया हूँ कि यह महान् पूजनीय प्राणी कौन है। अग्नि यह न समझ पाया कि वह यक्ष ही अग्नि आदि देवों की शक्ति का स्रोत है, अतः वह विफल लौट आया।

अग्निदेव ब्रह्म को नहीं जान सकता, ब्रह्मशक्ति के बिना वह एक तिनके को भी जलाने में समर्थ नहीं है, इसलिए वह ब्रह्मशक्ति के सामने परास्त होकर वापस आ गया।

टिप्पणीः—

१. निदधौ—नि+√धा धारणे (जुहोत्यादि०) लिट् प्रथम पुरुष, एक०।

२. उपप्रेयाय—उप, प्र √इ गतौ, लिट् प्रथम पुरुष, एक०।

३. निववृते—नि √वृत् वर्तने (आ० भ्वादि०) लिट् प्रथम पुरुष, एक०।

४. अशकम्—√शक् शक्तौ (स्वादि०) लुङ् उत्तम पुरुष, एक०।

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥७॥

(मन्त्र ७—१० का शाङ्कर भाष्य ३-६ जैसा ही है, अतः उसकी पुनरावृत्ति नहीं की गई)

अन्वयार्थः—(अथ) इसके अनन्तर [देवों ने] (वायुम्) वायु को (अब्रुवन्) कहा (वायो) हे वायु ! (एतत्) इसको (विजानीहि) जानो (इति) कि (एतत्) यह (यक्षम्) पूजनीय महान् प्राणी (किम्) कौन है ?

[वायु ने कहा]—(इति) कि (तथा) बहुत अच्छा ।

व्याख्या—अग्नि के विफल लौट आने पर देवताओं ने वायुदेव से कहा कि हे वायु, इस यक्ष के पास आप जाइये और पता लगाइये कि यह पूजनीय प्राणी कौन है । अग्निदेव के बाद वायुदेव को भेजने से यह जान पड़ता है कि देवताओं ने यह समझ रखा था कि अग्नि से वायु का सामर्थ्य अधिक है । —कहा भी गया है कि 'वायोरग्निः' अर्थात् वायु से अग्नि का जन्म हुआ । अग्नि के दो गुण ताप और प्रकाश हैं । ताप सीमित क्षेत्र में कार्य करने वाला है और प्रकाश का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है । अग्नि में प्रकाश अपना गुण है और ताप वायु के संयोग से उत्पन्न गुण है । वायु का गुण स्पर्श है और वह अग्नि से अधिक सूक्ष्म है ।

यहाँ इन्द्रियों के सन्दर्भ में वायु का अर्थ प्राणशक्ति है । ऐ०उ०१।४ 'वायु प्राणः ।' वाणी का प्राबल्य एवं सामर्थ्य सर्वजनविदित है परन्तु उसकी महत्ता श्वासापेक्ष है । श्वासों के अभाव में वाणी मूक है । इस प्रकार ब्रह्मज्ञान में वाणी के असफल हो जाने पर प्राणों के प्रयत्न का महत्त्व है । लौकिक व्यवहार में भी यह देखा जाता है कि अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए वायु से काम लिया जाता है । यास्क ने वायु की व्युत्पत्ति गत्यर्थक धातुओं से मानी है—'वायुर्वातेः वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः (नि०१०।१) वाति गच्छति इति वायुः—√वा गति, उण् से वायु की व्युत्पत्ति मानी गई है । यह गति, हिंसा और तीव्रता की भी द्योतक है ।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥८॥

अन्वयार्थः—[वायु] (तत्) उस [यक्ष के] (अभ्यद्रवत्) पास शीघ्र गया [उस यक्ष ने] (तम्) उस [वायु से] (अभ्यवदत्) पूछा (इति) कि [तुम] (कः) कौन (असि) हो । [वायु ने] (अब्रवीत्) कहा (इति) कि (अहम्) मैं (वायुः)

वायु हूँ । (वै) निश्चय ही (अहम्) मैं (मातरिश्वा) अन्तरिक्षगामी (अस्मि) हूँ ।

व्याख्या—देवताओं के कहने पर कि तुम इस यक्ष का पता लगा लाओ कि यह पूजनीय महान् प्राणी कौन है, वायुदेव शीघ्र यक्ष के पास गये। किन्तु वायु के पूछने से पहले ही यक्ष ने पूछा कि तुम कौन हो । वायु ने उत्तर दिया कि मैं वायु हूँ और निश्चय ही मैं मातरिश्वा अर्थात् अन्तरिक्ष में चलने वाला हूँ मातरिश्वा की व्युत्पत्ति√श्वस् प्राणने से भी मानी जा सकती है और इसीलिए मातरिश्वा को प्राण कहा जाता है। ऐतरेयोपनिषद् १।४ में भी कहा गया है कि 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' अर्थात् वायु प्राण बनकर नासिकाछिद्रों में प्रविष्ट हुआ । मातरिश्वा—मातरि श्वयति इति । मातृ यहाँ अन्तरिक्ष का वाचक है क्योंकि यह सब सीमाओं को निर्धारित करता है तथा सब की उत्पत्ति अन्तरिक्ष से होती है। अतः आकाश में गति करने वाला वायु मातरिश्वा है। मातरिश्वा 'श्वि गतिवृद्धयोः' का रूप है। यहाँ सप्तमी का अलुक् है। वायु को देवताओं का आत्मा भी कहा गया है—"आत्मा देवानाम्" (ऋ० १०।६८) इसीलिये देवताओं ने अग्निदेव के विफल लौट आने पर वायुदेव को यक्ष का पता लगाने के लिये भेजा था ।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ।।९।।

अन्वयार्थः—[यक्ष ने पूछा] (इति) कि (तस्मिन्) उस (त्वयि) तुझमें (किम्) क्या (वीर्यम्) सामर्थ्य है। [वायु ने कहा] (इति) कि (इदम्) यह (यत्) जो कुछ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर है (इदम्) इस (सर्वम्) सबको आद-दीयम्) ले जा सकता हूँ ।

व्याख्या—वायु की भी वैसी ही गर्वोक्ति सुनकर यक्ष ने पूछा कि आप जो इस प्रकार वायु तथा मातरिश्वा हैं, आपमें क्या सामर्थ्य है। यह सुनकर वायुदेव ने अग्नि के समान ही अभिमानपूर्ण वचन कहे कि वह पृथिवी पर स्थित सभी वस्तुओं को ग्रहण कर सकता है अर्थात् उड़ाकर दूर फेंक सकता है।

टिप्पणी—

१. आददीयम्—आ+√दद् (भ्वादि० आ०) ग्रहण करना तथा उठा ले जाना, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष, एक० ।

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥१०॥

अन्वयार्थः—[यक्ष ने] [तस्मै] उस वायु के लिए (तृणम्) एक तिनका (निदधौ) रखा [और कहा] (इति) कि (एतत्) इसे (आदत्स्व) उठाओ। [वायु] (तत्) उस तिनके के (उप) पास (प्रेयाय) पहुँचा। (सर्वजवेन) अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य से (तत्) (उस तिनके को) (आदातुम्) लेने में (न शशाक) सफल न हो सका। (सः) वह (ततः) वहाँ से ही (निववृते) लौट आया। [मैं] (एतद्) यह (विज्ञातुम्) जानने में (अशकम्) असमर्थ हूँ। (यत्) जो (एतद्) यह (यक्षम्) यक्ष है।

व्याख्या—वायु के भी अभिमानपूर्ण वचन सुनकर यक्ष रूप ब्रह्म ने उसके सामने एक तिनका रखा और कहा कि आप तो पृथिवीस्थ सभी वस्तुओं को उड़ा सकते हैं, तनिक सा बल लगाकर इस सूखे तिनके को उड़ाओ। वायु ने मानो इसे अपना अपमान समझा और सहज ही उस तिनके के पास पहुंचे और उसे उड़ाना चाहा, किन्तु जब नहीं उड़ा तो उन्होंने उसे ग्रहण करने में अपना पूरा सामर्थ्य लगा दिया। परन्तु ब्रह्म के द्वारा शक्ति रोक दिये जाने के कारण वायु उस तिनके को तनिक सा भी न हिला सके और अग्नि की ही भांति लज्जित होकर वहाँ से लौट आए कि मैं अपने कार्य में सफल न हो सका, यक्ष का पता नहीं लगा सका हूँ। अग्नि और वायु के सामने तृण रखने में ब्रह्म का यह अभिप्राय था कि एक तिनके को जलाने और ग्रहण करने में असमर्थ होने से इन प्रतिष्ठित अग्नि और वायु का आत्माभिमान क्षीण हो जाए।

टिप्पणी—

१. आदत्स्व—आ√दद् लोट् मध्यम पुरुष, एक०।

२. आदातुम्—आ√दा, तुमुन्।

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥११॥

शाङ्करभाष्यम्—अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहीत्यादिपूर्ववत्। इन्द्रः परमेश्वरो मघवा बलवत्त्वात् तथेति तदभ्यद्रवत्। तस्मात् इन्द्रादात्मसमीपं गतात् तद्ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतम्। इन्द्रस्येन्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि नादाद्ब्रह्मेन्द्राय ॥११॥

अन्वयार्थ:—(अथ) अब [देवताओं ने] (इन्द्रम्) इन्द्र को (अब्रुवन्) कहा—(मघवन्) हे इन्द्र (एतत्) यह (विजानीहि) पता लगाओ (इति) कि (एतत्) यह (यक्षम्) महान् पूजनीय प्राणी (किम्) कौन है? [इन्द्र ने कहा] (इति) कि (तथा) बहुत अच्छा [यह कहकर वह] (तत) उस [यक्ष] के (अभ्यद्रवत्) पास दौड़कर पहुँचा। (तस्मात्) उससे [यक्ष] (तिरोदधे) ओझल हो गया।

व्याख्या—अग्नि और वायु सदृश अप्रतिम शक्ति और बुद्धिसम्पन्न देवता जब यक्ष का बिना पता लगाए लौट आये, तब सब देवताओं ने मिलकर इन्द्र से कहा कि आप हम सब में बलवान् और श्रेष्ठ हैं, आप ही जाकर पता लगा लाएं कि यह महान् पूजनीय प्राणी कौन है। यह प्रसिद्ध है कि मन इन्द्रियों का राजा है और उसकी न केवल गति वायु से तीव्र है प्रत्युत उसका निग्रह भी असम्भव सा ही है। गीता में श्रीकृष्ण का कथन है—**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्**। इन्द्र को √इन्द परमैश्वर्ये दीप्तौ च से व्युत्पन्न किया जाता है इन्द्र अर्थात् परमेश्वर जो बलवान होने के कारण मघवा कहा गया है। उणादि १।१५९ में मघवन् को √मह् पूजायाम् से कनिन् प्रत्यय लगाकर बनाया गया है—मह्यते पूज्यतेऽसौ मघवा। अतः इन्द्र को मघवन् कहकर उसे पूजनीय, सर्वश्रेष्ठ आदि भावों से जोड़ा गया है। इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर तुरन्त यक्ष के पास पहुँचे और उनके वहाँ पहुँचते ही यक्ष उनके सामने से अन्तर्हित हो गए। इन्द्र में इन देवताओं से अधिक अभिमान था, इसलिये ब्रह्म ने इन्द्र को इस वार्तालाप का तो अवसर नहीं दिया किन्तु इस एक दोष के अतिरिक्त इन्द्र अन्य सब प्रकार से अधिकारी थे, अतः उन्हें ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान कराना आवश्यक जानकर वे स्वयं अन्तर्हित हो गए। शंकराचार्य ने इन्द्र के तिरोधान का कारण यह माना है कि यक्ष रूप ब्रह्म इन्द्र के अभिमान को पूर्णतया दूर कर देना चाहते थे। डा० सीतानाथ गोस्वामी के अनुसार

मुकुन्ददास इससे विपरीत भाव मानते हैं—ब्रह्म ने सोचा कि मैंने इस इन्द्र को देवताओं का राजा बनाया है, अतः इसका अभिमान नष्ट नहीं होना चाहिए, इसलिए इसके सामने से छिप गया।

इस मन्त्र का सार यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार शरीर में वाणी प्राण आदि का अध्यक्ष मन है उसी प्रकार अग्नि वायु आदि देवों का अधिपति इन्द्र है। जैसे आँख, कान, नाक, आदि इन्द्रियों की अपेक्षा मन की शक्ति अधिक है उसी प्रकार अग्नि आदि देवों की अपेक्षा इन्द्र की शक्ति अधिक है। इसलिए यही आत्मा का थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः इन्द्र को ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए ही यक्ष उसके सामने आते ओझल हो गया।

टिप्पणी—

१. तिरोदधे—तिरस् + √धा धारणे (जुहोत्यादि०) लिट् प्रथम पुरुष, एक० आत्मनेपद।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाय बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥१२॥

शाङ्करभाष्यम्—तद्यक्षं यस्मिन्नाकाशे आकाशप्रदेशे आत्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतमिन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधानकाले यस्मिन्नाकाशे आसीत्, स इन्द्रः तस्मिन्नेव आकाशे तस्थौ किं तद्यक्षमिति ध्यायन् न निववृतेऽग्न्यादिवत्।

तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत्स्त्रीरूपा। स इन्द्रः ताम् उमां बहुशोभमानां सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमा विद्या, तदा बहुशोभमानेति विशेषणमुपपन्नं भवति, हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव बहुशोभमानामित्यर्थः, अथवा उमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा ताम् उप जगाम इन्द्रस्तां ह उमां किल उवाच पप्रच्छ—ब्रूहि किमेतद्दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति ॥१२॥

अन्वयार्थः—(सः) वह इन्द्र (तस्मिन्नेव) उसी (आकाशे) आकाश में (बहुशोभमानाम्) अतिशोभायमान (उमाम्) उमा नामक (स्त्रियम्) स्त्री के

(आजगाम) पास आया। [उस इन्द्र ने] (ताम्) उस (हैमवतीम्) हिमवान् की पुत्री अथवा सुवर्णमयी को (उवाच) कहा (इति) कि (एतत्) यह (यक्षम्) महान् पूजनीय प्राणी (किम्) कौन है।

व्याख्या—यक्ष के अन्तर्धान हो जाने पर इन्द्र वहीं खड़े रहे, अग्नि और वायु की भांति वहाँ से लौटे नहीं। इतने में ही उन्होंने देखा कि जहां आकाश में दिव्य यक्ष था, उसी स्थान पर अत्यन्त शोभायमान हिमालय की पुत्री प्रकट हुई। उन्हें देखकर इन्द्र उनके पास गये तथा भक्तिपूर्वक कहा कि वह दिव्य यक्ष, जो दर्शन देकर तुरन्त ही छिप गया, वस्तुतः कौन है और यहाँ किस हेतु प्रकट हुआ था। यहाँ 'बहुशोभमानां हैमवतीम् उमां स्त्रियम्' से अभिप्राय शब्दरूपिणी उमा विद्या से है। स्त्रियम् की व्युत्पत्ति √स्त्यै शब्दसङ्घातयोः (भ्वादि०), —स्त्यायति शब्दयति गुणान् गृह्णाति वा सा स्त्री' से की गई है। यहाँ 'स्त्रियम्' उमा के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः 'शब्दरूप तथा नाम आदि के रूप में मिलने वाली' इस भाव का वाचक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक् को स्त्री और योषा कहा गया है। यहाँ स्त्रियम् से अभिप्राय शब्दरूपिणी विद्या से है। **बहुशोभमानाम्**—ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक् को भर्ग, शर्म, अग्नि, आदित्य चन्द्रमा आदि कहा गया है। उमा वाक् है। अतः उसे बहुशोभमाना कहा गया है। **उमाम्**—तै० उ० प्र० १ अ० ४८ में उमा नाम ब्रह्मविद्या का है—**उमा ब्रह्मविद्या**। लोक में और पुराणों में उमा को शिव की पत्नी कहा गया है। अतः उमा शिव ब्रह्म की शक्ति है जो विद्या रूप है। इसकी व्युत्पत्तियां—१. ओः (शिवस्य—ब्रह्मणः) मा (लक्ष्मीः) २. उं (शिवं—ब्रह्म) माति मिमीते वा। ३. अवते ऊयते वा (√ऊ शब्द करना) दी गई हैं। इन व्युत्पत्तियों के अनुसार भी उमा ब्रह्म की प्रकाशिका शब्द रूप शक्ति और शोभा है। अतः ब्रह्मज्ञान विद्या ही उमा है जिसके द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर मनुष्य अमर हो जाता है। **हैमवतीम्**—शंकराचार्य के अनुसार हैमवती का अर्थ सुवर्णनिर्मित आभूषणों वाली के समान अत्यन्त शोभामयी अथवा हिमवान् की कन्या लिया गया है। किन्तु यह भाव 'बहुशोभमानाम्' से ही व्यक्त हो जाता है। उणादिकोष में हेम की व्युत्पत्ति—'हिनोति वर्धते येन तत्' दी गई है। अतः बढ़ाने वाला—बढ़ने वाला ही हेम-हैम कहलाता है। वाक् सदा वर्धनशील है। बोली जाने पर ब्रह्माण्ड में फैल जाती है। अतः यह पद

'वर्धनशील' अथवा ब्रह्मज्ञान कराने के कारण 'आत्मा का विकास करने वाली' भाव का वाचक है। डा० राधाकृष्णन् हिमालयपुत्री उमा से यह भाव निकालते हैं कि उपनिषदों के विचार हिमालय के जंगलों में रहने वालों के द्वारा विकसित किए गये थे। डा० सीतानाथ गोस्वामी लिखते हैं कि उमा, अम्बिका, दुर्गा, कात्यायनी आदि एक ब्रह्म के ही अनेक नाम हैं। ये दोनों अलग-अलग भासित होते हैं। वस्तुतः उमा सदा से समस्त ज्ञान का कोष मानी गई है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने हैमवती का अर्थ कुण्डलिनी शक्ति किया है। उनके अनुसार शरीर में पर्वत पृष्ठवंश अथवा मेरुदण्ड है। इस हिमवान् पर्वत के मूल में कुण्डलिनी शक्ति है, वही पार्वती उमा है। वह शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या कर रही है। शिव, रुद्र, महादेव, एकादश रुद्र, प्राणसमेत आत्मा आदि सब एक ही हैं। प्राण के पीछे चलता हुआ मन कुण्डलिनी शक्ति का दर्शन करता है और इस कुण्डलिनी का सम्बन्ध प्राणयुक्त आत्मबुद्धि मन के साथ होने से उसको ब्रह्म की कल्पना आती है तथा उसका गर्व हरण होता है अर्थात् वह मन शान्त होकर अत्यन्त स्थिर होता है। चित्तवृत्ति के इस प्रकार लय होने से स्वरूप का ज्ञान यत्किञ्चित् हो जाता है। इस प्रकार उमा हैमवती का अर्थ कुण्डलिनी शक्ति है तथा अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण की श्रेष्ठता सिद्ध है। उमा की तुलना परब्रह्मवाचक पद 'ओम्' से की जा सकती है। जो वर्ण ओम् (अ उ म्) में हैं उनसे ही उमा (उ म् आ) शब्द बना है। इसके द्वारा परमात्मा की ओम् रूपी शब्दशक्ति का संकेत किया गया है। इसमें समस्त भाषाएँ समाहित हो जाती हैं—अ सभी कण्ठ्य ध्वनियों का, उ मुख के अवयवों से उच्चारित ध्वनियों का (क्योंकि उ का उच्चारण करते हुए वायु मुख में घूमती है) और म् वाणी की परिसमाप्ति का प्रतीक है (क्योंकि म् का उच्चारण करते हुए मुख बन्द हो जाता है)। दूसरे शब्दों में यहाँ यह संकेत है कि गुरुमुखी विद्या के बिना ब्रह्मज्ञान का उयय होना असम्भव है।

तृतीय खण्ड का सार यह प्रतीत होता है कि अग्नि और वायु दो प्रबल तत्त्व हैं, किन्तु इनमें जो शक्ति है, वह परब्रह्म की है। दूसरा तात्पर्य अग्नि और वायु से मुख्य इन्द्रिय आंख तथा कान हैं। आँख से ब्रह्म प्रकाशित नहीं होता क्योंकि वह इसके ऊपर है। वह कान से भी नहीं जाना जा सकता। परमात्मस्वरूप पांचों इन्द्रियों की पहुँच से वाहर है। इन्द्र से तात्पर्य विद्युत

और मनोवृत्ति है। विजली की चमक और मानस कल्पना परब्रह्म के स्वरूप को प्रकट करने और जानने में सर्वथा असमर्थ है। यह रूपक अधिदैवत और अध्यात्म दोनों भावों को प्रकट करता है। अधिदैवत का यहाँ उमा से तात्पर्य जगमगाती सूर्य की ज्योति है तथा अध्यात्म में शुद्ध विद्या शुद्ध बुद्धि समझी गई है।

टिप्पणी—

१. आजगाम—आ + √गम्, लिट् प्रथम पुरुष एक०।

२. उवाच—√ब्रू लिट् प्रथम पुरुष, एक०।

—:०:—

चतुर्थः खण्डः

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद् विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥१॥

शाङ्करभाष्यम्—सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मणो वै ईश्वरस्यैव विजये ईश्वरेणैव जिता असुराः, यूयं तत्र निमित्तमात्रम्, तस्यैव विजये यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ। एतदिति क्रियाविशेषणार्थम्। मिथ्याभिमानस्तु युष्माकम् अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। ततः तस्मादुमावाक्याद् ह एव विदाञ्चकार ब्रह्मेति इन्द्रः, अवधारणात् ततो हैव इति, न स्वातन्त्र्येण ॥१॥

अन्वयार्थः—(सा) उस [उमा] ने (उवाच) कहा (इति) कि (ह) निस्सन्देह [यह यक्ष] (ब्रह्म) ब्रह्म है। (इति) और कि [आप] (वै) निश्चित रूप से (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (एतद्) इस (विजये) विजय पर (महीयध्वम्) महिमा को प्राप्त हुए हो। (ततः) इसके अनन्तर [इन्द्र ने] (हैव) निश्चय-पूर्वक (विदाञ्चकार) जाना (इति) कि [यह यक्ष] (ब्रह्म) ब्रह्म है।

व्याख्या—इन्द्र के पूछने पर स्त्रीरूपिणी उमा नामक विद्या ने उत्तर दिया कि जिस यक्ष का तुम्हारे आते ही अन्तर्धान हो गया, वे निश्चय ही साक्षात् परब्रह्म थे। तुम देवताओं ने जो असुरों पर विजय प्राप्त की थी, वह उस ब्रह्म की शक्ति के कारण ही थी। तुम देवतागण तो उस विजय में केवल निमित्तमात्र थे, किन्तु तुमने ब्रह्म की उस विजय को अपनी ही विजय मान लिया। यह तुम्हारा मिथ्याभिमान था। परब्रह्म ने तुम लोगों पर कृपा करके असुरों पर तुम्हें विजय प्रदान करायी। उसी परब्रह्म ने तुम्हारे मिथ्याभिमान का नाश करके तुम्हारा कल्याण करने के लिए प्रथम अग्नि और वायु का गर्व चूर्ण किया, तदनन्तर तुम्हें वास्तविक ज्ञान देने के लिए मुझे प्रेरित किया। उमा के इस उत्तर से देवताओं में सर्वप्रथम इन्द्र ने यह जाना कि यक्ष के

रूप में ब्रह्म ही उन लोगों के सामने प्रकट हुए थे। "हैव" इन दो एकार्थ शब्दों के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि इन्द्र भी उमा अर्थात् बुद्धि के बिना ब्रह्म को स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं जान सकता। अतः इस मन्त्र से यह सूचित होता है कि जगत् के ऊपर विजय तथा स्वामित्व परब्रह्म का है तथा उसके ऊपर वा तुल्य कोई नहीं है। इन्द्र स्वयं विशुद्ध मन का प्रतीक है। अतः आत्मज्ञान के लिए इस कथा द्वारा निष्कलङ्क निर्लिप्त मन की आवश्यकता का संकेत भी किया है।

टिप्पणी—

१. महीयध्वम्—√मह् (पूजायाम् चुरादि०) लोट् मध्यम पुरुष, बहु० आत्मनेपद।

२. विदाञ्चकार—√विद् ज्ञाने से √कृ (करणे, तनादि) लिट् प्रथम पुरुष, एक०।

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥२॥

शाङ्करभाष्यम्—तस्मात् स्वैर्गुणैः अतितरामिव शक्तिगुणादिमहाभाग्यः अन्यान् देवान् अतितराम् अतिशेरत इव एते देवाः। इवशब्दोऽनर्थकोऽवधारणार्थो वा। यद् अग्निः वायुः इन्द्रः ते हि देवा यस्मात् एनत् ब्रह्म नेदिष्ठम् अन्तिकतमं प्रियतमं पस्पृशुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्रह्मणः संवादादिप्रकारैः, ते हि यस्माच्च हेतोः एनद् ब्रह्म प्रथमः प्रथमम् सन्त इत्येतत् विदांचकार विदांचक्रुरित्येतद्ब्रह्मेति ॥२॥

अन्वयार्थः—तस्मात्) इस [कारण] से (वै) निस्सन्देह (अग्निः) अग्नि, (वायुः) वायु और (इन्द्रः) इन्द्र (एते) इन (देवाः) देवताओं ने (इव) मानो (अन्यान्) दूसरे (देवान्) देवताओं को (अतितराम्) अतिक्रान्त किया। (ते) उन्होंने (हि) ही (एनत्) इस [ब्रह्म] का (नेदिष्ठम्) बहुत पास से (पस्पृशुः) स्पर्श किया। (ते) उन्होंने (हि) निस्सन्देह (एनत्) इसको (प्रथमः) सबसे पहले (विदाञ्चकार) जाना (इति) कि [यह यक्ष] (ब्रह्म) ब्रह्म है।

व्याख्या—उस उमारूप विद्या के उपदेश तथा अपनी शक्तिहीनता के अनुभव के कारण अग्नि, वायु और इन्द्र ने मानो अन्य देवों को अतिक्रान्त

किया क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र ये देवता ब्रह्म के साथ संवाद और दर्शनादि करने के कारण उसकी समीपता को प्राप्त हुए थे। अर्थात् इन तीनों देवताओं ने सर्वप्रथम इस सत्य को समझा था कि हमने जिनका दर्शन किया था, जिनसे वार्तालाप किया था, जिनकी शक्ति से असुरों पर विजय प्राप्त की थी, वे साक्षात् परब्रह्म थे। इसी कारण से वे दूसरे देवाताओं से कुछ ऊपर उठ गए थे। ये तीनों देवता तीन प्रमुख ज्ञानेन्द्रियों क्रमशः घ्राण (प्राण), मुख (वाणी) और मन (चैतन्य) का प्रतिनिधित्व करते हैं।

टिप्पणी:—

१. अतितराम्—अव्यय, जैसे सुतराम्, नितराम्।

२. पस्पृशुः—√स्पृश् संस्पर्शने (तुदादि०) लिट् प्रथम पुरुष, बहु०।

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥३॥

शाङ्करभाष्यम्—तस्माद्वै इन्द्रः अतितरामिव अतिशेरत इव अन्यान् देवान्। स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श यस्मात् स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेत्युक्तार्थं वाक्यम् ॥३॥

अन्वयार्थः—(तस्मात्) इस [कारण] से (वै) निस्सन्देह (इन्द्रः) इन्द्र ने (इव) मानो (अन्यान्) दूसरे (देवान्) देवताओं को (अतितराम्) अतिक्रान्त किया (हि) क्योंकि (सः) उस [इन्द्र] ने (एनत्) इस [ब्रह्म] को (नेदिष्ठम्) परम समीपता से (पस्पर्श) स्पर्श किया। (हि) अवश्य ही (सः) उसने (एनत्) इसे (प्रथमः) सबसे पहले (विदाञ्चकार) जाना (इति) कि [यह यक्ष] (ब्रह्म) ब्रह्म है।

व्याख्या—अग्नि और वायु ने दिव्य यक्ष के रूप सर्वप्रथम ब्रह्म का दर्शन किया और उसके साथ वार्तालाप किया। किन्तु उन्हें उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ। उमा के द्वारा सर्वप्रथम इन्द्र को सर्वशक्तिमान् परब्रह्म के तत्त्व का ज्ञान हुआ। तदनन्तर इन्द्र के बताने पर ही अग्नि और वायु को उसके स्वरूप का ज्ञान हुआ। इसी कारण से इन्द्र अन्य देवताओं से श्रेष्ठ है क्योंकि इन्द्र ने ही सर्वप्रथम उसके तत्त्व को जाना।

टिप्पणी—

१. पस्पर्श—√स्पृश् संस्पर्शने, लिट् प्रथम पुरुष, एक० ।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३इतीन्न्यमीमिषदा३इत्यधि-दैवतम् ॥४॥

शाङ्करभाष्यम्—तस्य ब्रह्मण एव वक्ष्यमाण आदेश उपासनोपदेश इत्यर्थः । यस्माद्देवेभ्यो विद्युदिव सहसैव प्रादुर्भूतं ब्रह्म द्युतिमत्तस्माद्विद्युतो विद्योतनं यथा यदेतद्ब्रह्म व्यद्युतद्विद्योतितवत् । आ इवेत्युपमार्थ आशब्दः । यथा घनान्धकारं विदार्य विद्युत्सर्वतः प्रकाशत एवं तद्ब्रह्म देवानां पुरतः सर्वतः प्रकाशवद्व्यक्तीभूतमतो व्यद्युतदिवेत्युपास्यम् । यथा सकृद्विद्युतमिति च वाजसनेयके ।

यस्माच्चेन्द्रोपसर्पणकाले न्यमीमिषत् । यथा कश्चिच्चक्षुर्निमेषणं कृतवानिति । इतीदित्यनर्थकौ निपातौ । निमिषितवदिव तिरोभूतम् । इति एवमधिदैवतं देवतया अधि यद्दर्शनमधिदैवतं तत् ।

अन्वयार्थः—(तस्य) उस [ब्रह्म] का (एषः) यह (अधिदैवतम्) देवता विषयक (आदेशः) उपदेश है, (यत्) जो (एतद्) (विद्युतः) बिजली का (व्यद्युतत् आ) चमकना सा है (इति) इस प्रकार (इति) जो यह [उपदेश] (न्यमीमिषत् आ) नेत्रों का झपकना सा है ।

व्याख्या:—अब उपर्युक्त ब्रह्मतत्त्व को अधिदैवत दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं । ब्रह्म देवताओं के सम्मुख बिजली चमकने के समान अकस्मात् ही प्रकट और नेत्र मूँदने के समान तिरोहित हो गया अर्थात् जैसे बिजली क्षणमात्र चमककर अन्तर्हित हो जाती है और जैसे नेत्र खोलने पर कोई वस्तु एक क्षण को दीख पड़ती है तथा बन्द करते ही तत्काल अन्तर्हित हो जाती है वैसे ही यक्ष रूप ब्रह्म अग्नि आदि देवताओं के सम्मुख बिजली की चमक के समान प्रकट हुआ तथा इन्द्र के आते ही नेत्र मूँदने के समान ओझल हो गया । शंकराचार्य के अनुसार जिस प्रकार बिजली सघन अन्धकार को विदीर्ण करके सब ओर प्रकाशित होती है, उसी प्रकार वह ब्रह्म देवताओं के सामने सब ओर प्रकाशित होकर व्यक्त हुआ । इसलिए वह बिजली की चमक के समान है । इन्द्र के समीप जाने के समय ब्रह्म इस प्रकार संकुचित हो गया था मानो किसी ने नेत्र मूँद लिये हों । अतः वह नेत्र मूँदने के समान तिरोहित हुआ ।

इस प्रकार यह अधिदैवत ब्रह्मदर्शन है। जो दर्शन देवता सम्बन्धी होता है, वह अधिदैवत कहलाता है। मैक्समूलर ने भी 'आ' को उपमार्थक माना है कि ब्रह्म क्षण भर के लिए बिजली की चमक में प्रकट होता है और तुरन्त ही हमारी आंखों से ओझल हो जाता है। डा० सुधीर कुमार गुप्त के अनुसार अधिदैवत दृष्टि से ब्रह्म ही सब ज्योतियों और इन्द्रियों के कार्य को करता है, यहां तक कि पलक झपकने तक की सूक्ष्म क्रिया को भी।

टिप्पणी—

१. आदेशः—आ उपसर्ग √दिश् अतिसर्जने (तुदादिः) घञ् प्रत्यय।
२. व्यद्युतत्—विद्युत् दीप्तौ (भ्वादि०) लुङ् प्रथम पुरुष, एक० आत्मनेपद।
३. न्यमीमिषत्—निमिष् णिच् लुङ्, प्रथम पुरुष, एक०।

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥५॥

शाङ्करभाष्यम्—अथ अनन्तरम् अध्यात्मं प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते। यदेतद् गच्छतीव च मनः एतद्ब्रह्म ढौकत इव विषयीकरोतीव। यच्च अनेन मनसा एतद् ब्रह्म उपस्मरति समीपतः स्मरति साधकः अभीक्ष्णं भृशम्। संकल्पश्च मनसो ब्रह्मविषयः। मनउपाधिकत्वाद्धि मनसः संकल्पस्मृत्यादिप्रत्ययैरभिव्यज्यते ब्रह्म, विषयीक्रियमाणमिव। अतः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशः।

अन्वयार्थः—(अथ) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मविषयक (उपदेश यह है] (यत्) जो कि (मनः) मन (एतद्) इस [ब्रह्म] के समीप (गच्छति इव) जाता-सा है (च) तथा (अनेन) इस मन के द्वारा (सङ्कल्पः) विचार (एतत्) इस ब्रह्म को (अभीक्ष्णम्) पुनः पुनः (उपस्मरति) याद करता है।

व्याख्या:—अध्यात्म पक्ष में जो यह कहा गया है कि मन इस ब्रह्म के समीप जाता हुआ सा प्रतीत होता है अर्थात् मन ब्रह्म को विषय बनाता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मन वस्तुतः ब्रह्म को विषय नहीं बनाता क्योंकि ब्रह्म तो मन का अविषय है। इसलिए वह उस तक पहुंच नहीं सकता। अतः मन का भी मन होने के कारण 'गच्छतीव' कहा गया है। किन्तु साधक मन के द्वारा ही ब्रह्म का स्मरण करता है इसलिए सम्भवतः मन ब्रह्म के समीप मानो जाता है, ऐसा

कहा गया है। मनुष्य बार-बार मन के द्वारा ही उस परब्रह्म का स्मरण करता है।

इस प्रकार इस मन्त्र का सार यह प्रतीत होता है कि अध्यात्म पक्ष में मन और उसके संकल्प को ब्रह्म ही करता है। मन में जो यह गति संकल्प आदि प्रतीत होते हैं, यह वस्तुतः इस मन का स्वतन्त्र कार्य नहीं है ब्रह्म की शक्ति के कारण ही मन अपना कार्य करने में समर्थ होता है।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥६॥

शाङ्करभाष्यम्—तद् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वनं वननीयं संभजनीयम्। अतः तद्वनं नाम, प्रख्यातं ब्रह्म तद्वनमिति यतः, तस्मात् तद्वनमिति अनेनैव गुणाभिधानेन उपासितव्यं चिन्तनीयम्।

अनेन नाम्नोपासनस्य फलमाह—स यः कश्चिद् एतद् यथोक्तं ब्रह्म एवं यथोक्तगुणं वेद उपास्ते अभि ह एनम् उपासकं सर्वाणि भूतानि अभि संवाञ्छन्ति ह प्रार्थयन्त एव यथा ब्रह्म ॥६॥

अन्वयार्थः—(तत्) वह ब्रह्म (ह) निश्चय से (तद्वनम्) तद वनम् अर्थात् ग्रहणयोग्य (नाम) नाम वाला है। (तद्वनम्) तद वनम् पूजनीय (इति) इस भाव से (उपासितव्यम्) [उसकी] उपासना करनी चाहिये। (सः) वह (यः) जो (एतत्) इस ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जान लेता है (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (ह) निस्सन्देह (एनम्) उसको (अभि) सर्वत्र (संवाञ्छन्ति) चाहते हैं।

व्याख्या—केनोपनिषद् के प्रथम खण्ड के ४-८ मन्त्रों तक यह बताया गया है कि सांसारिक मनुष्य जिस ब्रह्म की उपासना करते हैं, वह ब्रह्म की नहीं है, जो मन का भी मन, प्राण का भी प्राण इत्यादि है। अतः ऋषि इस मन्त्र में उपासना का क्या नियम होना चाहिये यह दिखलाते हुए कहते हैं कि उस ब्रह्म को वन रूप से समझे अर्थात् परब्रह्म ऐसे हैं जिनकी सम्यक् रूप से भक्ति की जाये अर्थात् जो सेवनीय हैं। तदनन्तर जो कोई भी साधक उस

ब्रह्म को इस प्रकार जान लेता है, उसको सब प्राणी सब ओर से हृदय से चाहते हैं अर्थात् वह प्राणिमात्र का प्रिय हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म ही सब प्राणी है। जो कोई भी विद्वान् ब्रह्म की 'तद्वन' (एकमात्र ग्रहणयोग्य) के रूप में उपासना करता है, उसकी सभी जीव इच्छा करते हैं अर्थात् आशा करते हैं कि वह हमारी सभी इच्छाओं की पूर्ति करेगा। यह प्रसिद्ध ही है कि जैसे गुणवाले की उपासना की जाती है, वैसा ही फल होता है।

टिप्पणी—

१. तत् वनम्—वनम् √वन् शब्दे सम्भक्तौ च (भ्वादि०) से बना है। अतः यह शब्दात्मक सेवनीय, पूजनीय ब्रह्म का वाचक है। शंकराचार्य ने पदभाष्य में इसे 'तस्य वनं तद्वनम्' षष्ठी तत्पुरुष समास माना है।

२. उपासितव्यम्—उप + √आस्, तव्यत् नपुंसकलिङ्ग, प्रथमा, एक०।

३. संवाञ्छन्ति—सम् + √वाञ्छ वाञ्छायाम् (भ्वादिः) लट् प्रथम पुरुष, बहु०।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मी [तां] वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥७॥

शाङ्करभाष्यम्—उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन् ब्रूहि इति। एवमुक्तवति शिष्ये आहाचार्यः—उक्ता अभिहिता ते तव उपनिषत्। का पुनः सेत्याह—ब्राह्मी ब्रह्मणः परमात्मन इयं ब्राह्मी ताम्, परमात्मविषयत्वादतीतविज्ञानस्य, वाव एव ते उपनिषदमब्रूमेति. उक्तामेव परमात्मविषयामुपनिषदमब्रूमेत्यवधारयत्युत्तरार्थम्।

अन्वयार्थः—[शिष्य गुरु से कहता है] (इति) कि (भोः) हे गुरुदेव (उपनिषदम्) ब्रह्मविद्या को [मुझसे] (ब्रूहि) कहिये। [आचार्य उत्तर देता है (इति) कि (ते) तुम्हें (ब्राह्मी उपनिषद्) ब्रह्म ज्ञान (उक्ता) का उपदेश कर दिया गया है (वाव) निस्सन्देह (मैंने) (ते) तेरे लिये (तां=ब्राह्मीम्) ब्रह्म सम्बन्धी (उपनिषदम्) विद्या को (अब्रूम) कह दिया है।

व्याख्याः—इस मन्त्र का सार यह प्रतीत होता है कि शिष्य के यह कहने

पर कि आप मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये, गुरु कहता है कि मैंने तेरे लिये ब्रह्मविद्या का उपदेश दे दिया है। यहाँ शिष्य के पूछने का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि इस प्रसङ्ग में कुछ सारांश शेष रहा हो तो उसका भी उपदेश दे दीजिये। मैंने पूर्ण प्रकार से ब्रह्मविद्या कह दी है, उसका कुछ भी अंश शेष नहीं है, यह गुरु का आशय है। इस बात को और भी दृढ़ करते हुए गुरु कहते हैं कि निश्चय ही मैंने तेरे लिये ब्रह्मसम्बन्धिनी विद्या का उपदेश दे दिया है, अब यहाँ कुछ कथनीय नहीं है।

सम्भवतः इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि गुरु शिष्य के प्रार्थनावाक्य को उद्धृत कर उसे कह रहा है कि तुम्हें ब्रह्म ज्ञान के योग्य समझकर तुम्हारी इच्छा पूरी कर दी है, अब तुम ब्रह्म का साक्षात्कार करो। शंकराचार्य केनोपनिषद् को ब्राह्मी उपनिषद् कहने में संकोच करते हैं। अतः उन्होंने इस उपनिषद् को आत्मोपनिषद् कहकर उसकी व्याख्या की है। "ब्राह्मी नोक्ता, उक्ता त्वात्मोपनिषत्।"

टिप्पणी—

१. अब्रूम—√ब्रू व्यक्तायां वाचि, आत्मने० लङ्, उत्तम पुरुष, बहु०।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥८॥

शाङ्कर-भाष्यम्—यामिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रेऽब्रूमेति तस्यै तस्या उक्ताया उपनिषदः प्राप्त्युपायभूतानि तपआदीनि। तपःकायेन्द्रियमनसां समाधानम्। दमः उपशमः। कर्म अग्निहोत्रादि, एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा। दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मण्यप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च, यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम्। प्रतिष्ठा पादौ पादाविवास्याः, तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते, पद्भ्यामिव पुरुषः। वेदाश्चत्वारः सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट् कर्मज्ञानप्रकाशकत्वाद्वेदानां तद्रक्षणार्थत्वाद् अङ्गानां प्रतिष्ठात्वम्।......सत्यम् आयतनं यत्र तिष्ठत्युपनिषत् तदायतनम्। सत्यमिति अमायिता अकौटिल्यं वाङ्मनःकायानाम्। तेषु ह्याश्रयति विद्या ये अमायाविनः साधवः, नासुरप्रकृतिषु मायाविषु। तस्मा-

स्सत्यमायतनमिति कल्प्यते । तपश्रादिषु एव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम् ।।८।।

अन्वयार्थः—(तस्यै) उस उपर्युक्त ब्रह्मविद्या के (तपः) तप (दमः) इन्द्रियों का नियन्त्रण और (कर्म) अग्निहोत्रादि कर्म अथवा साधारण नियन्त्रित कर्म (इति) ये (प्रतिष्ठा) दृढ़ आधार हैं (वेदाः) चारों वेद (सर्वाङ्गानि) शिक्षा आदि छः अङ्ग, (सत्यम्) सत्य (आयतनम्) आगार हैं ।

व्याख्या—इस उपनिषद् में पूर्व ब्रह्मविद्या कह दी, अब उसके विशेष साधन कहते हैं । उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये तप, इन्द्रियों पर नियन्त्रण तथा नियन्त्रित कर्म दृढ़ आधार हैं । तप, मान-अपमान, सुख-दुःख, हानि-लाभ, स्तुति-निन्दा इत्यादि परस्पर विरुद्ध दो दो विषयों को सहना अर्थात् मान होने से न विशेष आनन्द मानना और न अपमान से दुःख मानना, किन्तु समदृष्टि रखना तथा चान्द्रायणादि व्रत जो यवमध्यचान्द्रायण, पिपीलिकामध्यचान्द्रायण, यतिचान्द्रायण आदि नामों से धर्मशास्त्रों में व्याख्यात हैं, उनका विधिपूर्वक अनुष्ठान करना तप है । तप का यह अर्थ व्यास जी ने योगभाष्य में किया है । शकराचार्य के अनुसार शरीर इन्द्रिय और मन के समाधान का नाम तप है । डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में तप अध्यात्म जीवन में शिक्षा प्राप्त करना है । यह पापों और दोषों का नाशक तथा पुण्य और गुणों का उत्पादक है । शतपथ ब्राह्मण में तप और श्रम को एक ही माना गया है "ये श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद् ऋषयः" शङ्कराचार्य के अनुसार दम, मन को वश में करना तथा वेदोक्त अग्निहोत्रादि वा धर्मशास्त्र में कहे सदाचरणादि कर्म ब्रह्मज्ञान के साधन हैं । कर्म को अग्निहोत्रादि तक सीमित करना अत्यन्त आवश्यक नहीं प्रतीत होता । तप और दम के अनुसार नियन्त्रित कर्म अर्थात् संयमपूर्वक किया गया कर्म भी अभिप्रेत हो सकता है क्योंकि वह भी ब्रह्मज्ञान में पूर्ण सहायक है ।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद और शिक्षादि छः अंग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र तथा ज्योतिःशास्त्र इन वेदवेदाङ्गों का अध्ययन-अध्यापन तथा सत्य का मन, वचन, कर्म से अनुष्ठान करना, ब्रह्मविद्या का निवास-स्थान है । इसलिए जो मनुष्य शुद्ध स्वभाव के होते हैं

उन्ही में ब्रह्मविद्या आश्रय लेती है, आसुरी प्रकृति वाले मायावियों में नहीं जैसा कि प्रश्नोपनिषद् १।१६ में भी कहा गया है "तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृत न माया चेति।" सत्य का आचरण ब्रह्मज्ञान का सर्वोत्तम साधन है। इसलिये विष्णुस्मृति ८ में भी कहा गया है कि सहस्र अश्वमेध और सत्य को तराजू में रखे जाने पर सहस्र अश्वमेधों की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है "अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। "अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते॥" शंकराचार्य ने ऋक् आदि चारों वेदों और शिक्षा आदि छः अङ्गों को भी प्रतिष्ठा माना है। उनके अनुसार कर्म और ज्ञान के प्रकाशक होने के कारण वेदों को और उनकी रक्षा के कारणभूत होने से वेदाङ्गों को ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा कहा है।

अतएव ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये तप, दम और कर्म जो इसके आश्रय है, इनका विधिपूर्वक आचरण करना चाहिये, तथा वेद, वेदाङ्गों का अध्ययन तथा सत्य का अनुष्ठान ब्रह्म-विद्या में सहायक हैं। वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना का ठीक मार्ग बताया गया है और वेदाङ्ग वेदज्ञान में सहायक हैं। अतः वेद-वेदाङ्गों को ब्रह्म का आयतन अर्थात् निवासस्थान कहा गया है।

टिप्पणी—

तस्यै—तस्याः के स्थान पर वैदिक प्रयोग—षष्ठयर्थे चतुर्थी।

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥९॥

शाङ्करभाष्य—यो वै एतां ब्रह्मविद्याम् 'केनेषितम्' इत्यादिना यथोक्ताम् एव महाभागाम् 'ब्रह्म ह देवेभ्यः' इत्यादिना स्तुतां सर्वविद्याप्रतिष्ठां वेद 'अमृतत्वं हि विन्दते' इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलमन्ते निगमयति अपहत्य पाप्मानम् अविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजं विधूय अनन्ते अपर्यन्ते स्वर्गे लोके सुखात्मके ब्रह्मणीत्येतत्। अनन्ते इति विशेषणान्न त्रिविष्टपे अनन्तशब्द औपचारिकोऽपि स्याद् इत्यत-आह ज्येये इति। ज्येये ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि मुख्ये एव प्रतितिष्ठति। न पुनः संसारमापद्यत इत्यभिप्रायः॥९॥

अन्वयार्थः—(वै) निस्सन्देह (यः) जो पुरुष (एताम्) इस ब्रह्मविद्या को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है [वह] (पाप्मानम्) पाप को (अपहत्य)

नष्ट करके (अनन्ते) अविनाशी (ज्येये) सर्वश्रेष्ठ (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (प्रतितिष्ठति) स्थित हो जाता है।

व्याख्या—इस मन्त्र में कहा गया है कि जो मनुष्य इस ब्रह्मविद्या को जैसा कि इस उपनिषद् में कहा गया है, जान लेता है, वह सब प्रकार के पापों से मुक्त होकर अविनाशी सर्वश्रेष्ठ स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है। जो विद्वान् ब्रह्मविद्या को जानता है वह पाप को छोड़कर अर्थात् अविद्या, कामना और कर्मरूप संसार को त्यागकर अनन्त जिसका कोई पार नहीं है, उस स्वर्ग लोक में स्थित हो जाता है अर्थात् वह पुनः इस संसार को प्राप्त नहीं होता है।

स्वर्ग की कल्पना अनन्त सुख की नहीं है। पुण्यों का फलभोग समाप्त कर लेने पर जीव पुनः भूलोक में देह धारण कर लेता है 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' अतः यहाँ "स्वर्गे लोके" का अर्थ 'ब्रह्मणि' अर्थात् 'ब्रह्म में' करना चाहिये। क्योंकि ब्रह्म में लीन हो जाने पर जीव पुनः भौतिक शरीर को ग्रहण नहीं करता। "न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते।" 'अनन्ते' इस विशेषण से यही अर्थ उपादेय है। आचार्य शङ्कर ने भी यही अर्थ किया है— 'सुखात्मके ब्रह्मणि' कुछ विद्वान् यहाँ 'स्वर्गे लोके' से 'क्रममुक्ति' का अभिप्राय लेते हैं।

——:o:——

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मन्त्रानुक्रमणिका

वैदिक उद्धरण

३.६२.१०

वैदिक वाङ्मय की समस्त रचनाओं में ऋग्वेद संहिता सबसे अधिक पुरातन एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संहिता में १०२८ सूक्त और १० मण्डल हैं। इसके मन्त्र अन्य तीनों वेदों में प्राप्त होते हैं।

इस देश में गायत्री की गरिमा का गान अनादिकाल से होता आया है। गायत्री मन्त्र त्रयी में प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद के ३।६२।१० वें मन्त्र में ऋक् रूप से, यजुर्वेद के ३।३५, ३०।२, ३६।३ मन्त्र में यजुः रूप से तथा सामवेद के उत्तरार्चिक के तेरहवें अध्याय के तृतीय खण्ड के तीसरे मन्त्र में सामरूप से उपलब्ध है। गायत्री छन्द में ग्रथित होने के कारण यह गायत्री नाम से ही लोक में विश्रुत हुआ है। सविता से सम्बद्ध होने के कारण इसे सावित्री भी कहा जाता है। इसमें सविता से प्रार्थना की गई है कि वे उपासकों को, जोकि उनकी वरेण्य ज्योति का ध्यान करते हैं, धी या प्रज्ञा को प्रेरित करें। यह प्रसिद्ध सावित्री मन्त्र है जिसके द्वारा उत्तरकाल में वेदाध्ययन के आरम्भ में सविता का आह्वान किया जाता था।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

सायण-भाष्यम्—यः सविता देवः नः अस्माक धियः कर्माणि धर्मादिविषया वा बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयेत् तत् तस्य देवस्य सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्य वरेण्यं सर्वैः उपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं भर्गः अविद्यातत्कार्ययोर्भजनाद्भर्गः स्वयंज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः धीमहि वयं ध्यायामः।

अन्वयार्थः—(यः) जो सविता देव (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रकाशित करते हैं (तत्) उस (देवस्य सवितुः) जगत्स्रष्टा परमेश्वर के (वरेण्यम्) परम श्रेष्ठ (भर्गः) तेज का (धीमहि) हम ध्यान करते हैं।

प्रकृति के साम्राज्य में बुद्धि की सत्ता सर्वशिरोमणि है। प्रवृत्तिमार्गियों को इसी की कुशाग्रता से त्रिवर्ग की प्राप्ति सुलभ हो जाती है एवं निवृत्तिमार्गियों को इसी की निर्मलता से मुक्ति पदवी भी अनायास मिल जाती है। दोनों मार्ग वाले अपनी-अपनी भावना के अनुसार परमात्मा से प्रेरित बुद्धि होकर यथेष्ट सुख लाभ करते हैं।

छान्दोग्य ३।१२।१ का वचन है कि यह जो कुछ है, सब गायत्री ही है, 'गायत्री वा इदं सर्वम्।' आदिकवि वाल्मीकि ने अपनी रामायण के चौबीस सहस्र श्लोकों की रचना गायत्री के चौबीस अक्षरों को लेकर की। मनु की सम्मति है कि तीन वर्षों तक सावधान होकर गायत्री का जप करते रहने से जापक को परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है—'योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः। स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्" (मनु० २।८२)। इस प्रकार गायत्री मन्त्र का मनुष्य के जीवन में अति महत्त्व है

५.८२.५

ऋग्वेद के ग्यारह सम्पूर्ण तथा अंशतः अनेक अन्य सूक्तों में सवितृ की प्रख्याति है। इनके नाम का प्रायः १७० बार उल्लेख मिलता है। सविता √सू से व्युत्पन्न है। इस धातु में प्रेरित करने, उद्दीप्त करने, जागृत करने और ऐश्वर्य प्रदान करने आदि के आशय निहित हैं। इस मन्त्र में सविता से प्रार्थना की गई है कि हमारे समस्त पाप नष्ट कर दो।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव।

सायण-भाष्यम्—हे सवितः देवः त्वं विश्वानि दुरितानि परा सुव। यद भद्रं प्रजापतिपशुगृहादिक तत् नः अस्मभ्यम् आ सुव अस्मदभिमुखं प्रेरय।

अन्वयार्थः—(सवितः देव) हे जगत्स्रष्टा परमेश्वर [हमारे] (विश्वानि) समस्त (दुरितानि) पापकर्म (परासुव) नष्ट कर दो। (यद्) जो (भद्रम्) कल्याणकारण है (तत्) वह (नः) हमको (आ सुव) प्रदान करो।

स्तोता परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि हमारे जितने भी पापकर्म हैं,

उन्हें नष्ट कर दो अर्थात् हमारे अशुभ कर्मों को हमसे दूर कर दो तथा शुभ कर्मों के माध्यम से शुभ पदार्थ प्रजा, पशु गृह इत्यादि हमें प्रदान करो जिससे हम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें ।

यजुर्वेद ३७.२४

जहाँ ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञान से माना जाता है, वहाँ यजुर्वेद का सम्बन्ध कर्म से बताया जाता है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रधान है और उसमें यज्ञों के करने की विधि बताई गई है, किन्तु यज्ञ का आशय केवल वेदी और अग्नि-कुण्ड बनाकर उसमें विभिन्न देवताओं के नाम से आहुतियाँ देने से ही नहीं, वरन् व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से मानव समाज के उत्कर्ष तथा कल्याण के जितने महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, उन सबका समावेश यज्ञ में हो जाता है। यही कारण है कि यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की बातों के साथ राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, शिल्प, व्यवसाय आदि के सम्बन्ध में भी कल्याणकारी ज्ञान प्रदान किया गया है।

सब कार्यों के लिए मनुष्य का स्वस्थ तथा दीर्घायु होना आवश्यक है। अतः प्रस्तुत मन्त्र में सूर्य से प्रार्थना की गई है कि हम समस्त इन्द्रियों से युक्त सौ वर्ष जीवित रहें। सत्य-शास्त्रों और आपके गुणों को सुनें इत्यादि। दीर्घायु और तेजस्विता के लिए अनादिकाल से देदीप्यमान सूर्य ही सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति है।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥१॥

अन्वयार्थः—(तत्) वह (देवहितम्) देवताओं को प्रिय अथवा देवताओं द्वारा धारण किया गया (शुक्रम्) शक्ल अथवा तेजस्वी (चक्षुः) जगत् का नेत्र-भूत आदित्यरूप (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (उच्चरत्) उदय हो रहा है। [उसकी कृपा से] (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (पश्येम) देखें। (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (जीवेम) जीवित रहें। (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (शृणुयाम) सुनें (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (अदीनाः स्याम) दीनता-हीनता से वंचित रहें। (शतात्) सौ

(शरदः) वर्षों से भी (भूयः) अधिक [जीवित रहें, श्रवण करें, बोलें तथा दीनता हीनता से वंचित रहें] ।

ऋग्वेद १।११५।१ में भी सूर्य को मित्र, वरुण, अग्नि का नेत्र कहा गया है। सूर्य अपने तेज से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को प्रकाशित कर देता है। सूर्य ही समस्त स्थावर और जङ्गम का स्वरूपभूत है। "चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।" सूर्य के उदित होते ही मृतप्राय समस्त जगत् पुनः चेतनायुक्त हो जाता है। अतः सूर्य से प्रार्थना की गई है कि हम नीरोग और समस्त इन्द्रियों से युक्त होकर सौ वर्ष जीवित रहें। सौ वर्ष तक दीनता रहित रहें। अर्थात् कभी किसी वस्तु के लिए पराधीन न हों। इस प्रकार सौ शरद् ऋतुओं को पूर्ण करते हुए अधिक काल तक स्थित रहें। शरदः का अर्थ शरद् ऋतु भी लिया जा सकता है। यह देखा गया है कि मनुष्य को शरद् ऋतु स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रायः दुःखप्रद प्रतीत होती है। इसलिए सूर्य से प्रार्थना की गई है कि हम सौ शरद् ऋतुओं को स्वस्थ इन्द्रियों से युक्त होकर जीयें।

उच्चरत्'—उच्चरति, इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" (पा० सं० ३।४।६७) इतीकारलोपः।

ऐतरेय ब्राह्मण ३३।३

न केवल वेदों को समझने के लिये अपितु प्राचीन भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण चित्र प्राप्त करने के लिए भी ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। प्राचीनकाल से ही कर्मकाण्डीय ग्रन्थों में इन्हें संहितामंत्रों के साथ वेद कहा गया है—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" आप० श्रौ० सू० २४।१।३१) अधिकांश विद्वानों द्वारा ब्रह्म अर्थात् मन्त्र की व्याख्या के अर्थ में ब्रह्मन् शब्द से अण् प्रत्यय लगाकर ब्राह्मण शब्द निष्पन्न माना जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों की अर्थमीमांसा, यज्ञानुष्ठान के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण तथा आलोचना, नाना विषयों के उपाख्यान, शब्दों की व्युत्पत्ति एवं प्राचीन राजाओं और ऋषियों की कथाएं हैं। इस प्रकार वेदांगों और सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य का बीज ब्राह्मण-ग्रन्थों में निहित है।

ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय ब्राह्मण के प्रणेता महीदास ऐतरेय हैं। सायण

के अनुसार यह ऋषि इतरा नामक महिला का पुत्र था। इतरा ने पृथिवी की उपासना की। पृथिवी के आशीर्वाद से महीदास विद्वान् हो गया और उसने इस ब्राह्मण का प्रणयन किया। यह ब्राह्मण पांच-पांच अध्यायों के आठ पञ्चकों में विभाजित है। तदनुसार इसमें कुल चालीस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय कुछ खण्डों में उपविभाजित है।

इस ब्राह्मण का प्रस्तुत प्रकरण (३३।३) राजकृत्यों से सम्बद्ध राजसूय यज्ञ का अङ्ग है। तंतीसवें अध्याय में प्रसिद्ध शुनःशेप आख्यान के प्रसङ्ग में हरिश्चन्द्र की प्रस्तुत कथा दी गई है। सायण ने इस कथा का फल वहुपुत्रलाभ बताया है "त्रयस्त्रिंशोऽयमध्यायः शौनःशेपेति नामवान्। हरिश्चन्द्रे कथा तत्र कथिता वहुपुत्रदा"। इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चन्द्र सन्तानहीन था। महर्षि नारद ने उस यह उपाय वताया कि तुम राजा वरुण से प्रार्थना करो और उसे कहो कि मेरा जो पुत्र होगा उससे मैं तुम्हारा यजन करूंगा। हरिश्चन्द्र के रोहित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। स्वाभाविक रूप से वरुण ने उसे पुत्र द्वारा यजन के लिये कहा। परन्तु हरिश्चन्द्र उसे यह कहकर टालता रहा कि अभी इसके दांत निकलने दो, दांत टूटने दो, फिर दांत निकलने दो। अन्त में उसने कहा कि क्षत्रिय का पुत्र धनुष्, वाण, कवच इत्यादि से युक्त होने पर ही यज्ञ-योग्य होता है। रोहित के धनुर्विद्या से युक्त होने पर पिता ने उसे सारी बात बताई। यह सुनकर रोहित धनुष-वाण लेकर वन में पहुँचा और एक वर्ष तक वहाँ रहा।

इधर हरिश्चन्द्र के जलोदर रोग हो गया। वरुण द्वारा उत्पन्न किये गये इस रोग का समाचार वन में रोहित को मिला तो वह वन से गांव की ओर चला, परन्तु इन्द्र ने उसे रोका। इस प्रकार पांच वर्ष तक इन्द्र द्वारा रोके जाने पर छठे वर्ष वन में चलते हुए उसे अजीगर्त नामक ऋषि मिला। रोहित अपने आपको वरुण से छुड़ाने के लिए सौ गौओं के वदले अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को ले आया।

इस कथा का आशय यह प्रतीत होता है कि यदि हरिश्चन्द्र कुछ प्रयत्न करता और अकर्मण्य बैठकर वरुण को बहानों से न टालता रहता तो वह

अवश्य ही अपने पुत्र को बचाकर भी वरुण को सन्तुष्ट कर देता । उसकी अकर्मण्यता के कारण ही हरिश्चन्द्र को भयानक जलोदर रोग हुआ । इधर वन में सञ्चरणशील रोहित अपनी रक्षा का उपाय ढूंढने में सफल हो गया । इस प्रकार रोहित को इन्द्र द्वारा दिये गये उपदेश कर्मशील रोहित का स्वजीवन तथा पिता के आरोग्य का कारण बना क्योंकि इन्द्र अर्थात् परमेश्वर-कर्मशील व्यक्ति का मित्र है ।

अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह तस्य होदरं जज्ञे, तदु ह रोहितः शुश्राव, सोऽरण्याद ग्राममेयाय, तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्यत्योवाच—
नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति । इति ॥१॥

सायणभाष्य—अथ रोहितस्यारण्ये संवत्सरवासानन्तरमैक्ष्वाकमिक्ष्वाकुवंशोत्पन्नं हरिश्चन्द्रं वरुणो देवो रोगरूपेण जग्राह । वरुणेन गृहीतस्य हरिश्चन्द्रस्योदरं जज्ञे जलेन पूरितमुच्छूनं महोदरनामकं रोगस्वरूपमुत्पन्नम् । तदु ह तदपि सर्वमरण्ये स्थितो रोहितः पुत्रो मनुष्यमुखाच्छुश्राव । श्रुत्वा च स रोहितः पितरं द्रष्टुमरण्याद् ग्रामं प्रत्याजगाम । आगच्छन्तं रोहितं मार्गमध्य इन्द्रः केनचिद् ब्राह्मणपुरुषरूपेण प्राप्येदमुक्तवान् । आ समन्ताच्छ्रान्त आश्रान्तः । सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्ति प्राप्तस्तद्विपरीतोऽनाश्रान्त एकत्रैव निवासशीलस्तादृशाय । तथाविधस्य पुरुषस्य श्रीर्बहुविधा संपन्नास्ति । यद्वा नानेति पदच्छेदः श्रान्ताय सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्तस्य ना॰ । श्रीर्बहुविधा संपदस्तीत्यनेन प्रकारेण रोहित वयं नीतिकुशलानां पुरुषाणां मुखाच्छुश्रुम । वरो जनो विद्यादिभिः श्रेष्ठोऽपि पुरुषो नृषत्पापो नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत् । श्रेष्ठोऽपि बन्धुगृहेषु सर्वदाऽवस्थितस्तैरवज्ञातः पापस्तुच्छो भवेत् । अतस्तव पितृगृहे वासो न युक्तः । न चारण्ये चरतो मम सहायो नास्तीति शङ्कनीयम् । इन्द्र एवं परमेश्वर एव चरतस्तव सखा भविष्यति । तस्माच्चरैव सर्वथाऽरण्ये चरस्वेत्येवमुवाच ।१।

अन्वयार्थः—(अथ) तदनन्तर (हैक्ष्वाकम्) इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हरिश्चन्द्र को (वरुणः जग्राह) वरुण ने [रोग के रूप में] पकड़ लिया । (तस्य) उस हरिश्चन्द्र का (उदरम्) पेट (जज्ञे) उत्पन्न हो गया अर्थात् जलोदर रोग के कारण पेट में पानी भरने से फूल गया । (तदु ह) यह

समाचार (रोहितः शुश्राव) रोहित ने सुना। (सः) वह (अरण्याद्) वन से (ग्राम को चल दिया। (इन्द्रः) इन्द्र ने (पुरुषरूपेण) पुरुष रूप में (तम्) उससे (पर्येत्योवाच) आकर कहा-रोहित! (श्रीः) धन-सम्पदा (अनाश्रान्ताय) श्रमण के श्रम से रहित सदैव एक स्थान पर स्थित मनुष्य के लिए (न अस्ति) नहीं है (इति शुश्रुम) ऐसा सुना है। अर्थात् जो व्यक्ति कार्य करता-करता थक न जाये, वह सुख का अधिकारी नहीं है। यहाँ स्पष्ट रूप से श्रम की महिमा का वर्णन है। (नृषत्) बन्धु-बान्धवों के घर में नित्य निवास करने से तिरस्कृत (वरः) श्रेष्ठ (जन) मनुष्य भी (पापः) पापी हो जाता है। अर्थात् चाहे व्यक्ति जन्म तथा वंश से कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, यदि वह अकर्मण्य रहता है तो सामान्य जन में उसका सम्मान नहीं होता। (इन्द्रः) इन्द्र (चरतः) चलने वाले का (इत्) ही (सखा) सखा है। इन्द्र अर्थात् परमेश्वर कर्मशील व्यक्ति का ही मित्र होता है। अतः (चरैवेति) चलते ही रहो।

१. जज्ञे—√जन्, लिट् प्रथम पुरुष, एकवचन।

२. इन्द्रः—सायण--परमेश्वर; हॉग—इन्द्र।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह द्वितीयं संवत्सरमरण्ये चचार सोऽरण्याद् ग्राममेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥चरैवेति इति॥२॥

सायण-भाष्यम्—ब्राह्मणरूपस्येन्द्रस्य वाक्यं श्रुत्वा ब्राह्मणोऽयमरण्ये चरैवेत्येवं मामुक्तवानिति मनसि ब्राह्मणवाक्ये महान्तमादरं कृत्वा पुनरप्येकं संवत्सरमरण्ये चरित्वा पश्चात्पितरं द्रष्टुं ग्रामं तमागच्छन्तं पुनरपीन्द्रो ब्राह्मणरूपेणाऽऽगत्यैवमुवाच। चरतः पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य जङ्घे पुष्पिण्यौ भवतः। यथा पुष्पयुक्तो वृक्षः शाखा लता वाऽथवा सुगन्धोपेता सेव्या भवत्येवं चरतो जङ्घे श्रमजयेन सेव्ये भवतः। तथैवाऽऽत्मा मध्यदेहो भूष्णुर्वर्धिष्णुः फलग्रहिरारोग्यफलयुक्तो भवति। यथा वर्धमानो वृक्षः कालेन फलानि गृह्णात्येवं चरतः पुरुषस्य वीजादिदीपनादिपाटवेन मध्यदेह आरोग्यरूपं फल गृह्णाति तथैवास्य चरतः पुरुषस्य सर्वे पाप्मानः सर्वपापानि प्रपथे प्रकृष्टे तीर्थक्षेत्रादिमार्गे श्रमेण तत्तद्देवतादिदर्शने तीर्थयात्रादिप्रयासेन हता विना-

शिताः सन्तः शेरे शेरते शयाना इव भवन्ति। यथा शयानाः पुरुषाः स्वकार्यं कृषिवाणिज्यादिकं कर्तुमशक्ता एवं पुण्येन विनष्टाः पाप्मा नरकं दातुमसमर्था इत्यर्थः। तस्मात्सर्वथाऽरण्ये चर न पितुर्गृहेऽवतिष्ठस्व ॥२॥

अन्वयार्थः—(चरैवेति) चलते ही रहो (वै) निश्चय ही (ब्राह्मणो) ब्राह्मण ने (मा) मुझे (अवोचत्) कहा है (इति ह) यह सोचकर (द्वितीय संवत्सरम्) दूसरे वर्ष (अरण्ये) वन में (चचार) चलता रहा। (सः) वह [रोहित] (अरण्याद्) वन से (ग्राममेयाय) ग्राम को चल दिया (इन्द्र) इन्द्र ने (पुरुषरूपेण) पुरुष रूप में (तम्) इससे (पर्येत्योवाच) आकर कहा—

(चरतो) विचरणशील पुरुष की (जङ्घे) पिंडलियाँ (पुष्पिण्यौ) फूलों से भर उठती हैं [पुष्ट हो जाती हैं] अर्थात् जैसे पुष्पों से युक्त शाखा सेवनीय हो जाती है वैसे ही कर्मशील व्यक्ति की पिंडलियाँ श्रम के कारण पुष्प (पुष्ट) होकर सेवनीय हो जाती हैं। (आत्मा) शरीर (भूष्णुः) बढ़कर (फलग्रहिः) [आरोग्यरूपी] फल प्राप्त करता है। अर्थात् जो व्यक्ति कार्यशील रहता है, उसका स्वास्थ्य समृद्ध रहता है, और जिसका स्वास्थ्य समृद्ध होता है, वह निरन्तर अभीष्ट प्राप्ति में समर्थ होता है। (अस्य) इस [कार्यशील व्यक्ति] के (सर्वे पाप्मानः) सारे पाप (प्रपथे) प्रगतिपथ में (श्रमेण) श्रम के द्वारा (हताः) विनष्ट होकर (शेरे) सो जाते हैं। अर्थात् विचरणशील पुरुष के सारे पाप श्रम के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, ऐसे पुरुष को किसी पापकर्म के विषय में सोचने का अवकाश ही नहीं होता है। अतः (चरैवेति) चलते ही रहो।

१. अवोचत्—√ब्रू, लुङ् प्रथम पुरुष, बहुवचन।

२. शेरे—√शी, लट् प्रथम पुरुष, बहुवचन। शेरते के स्थान पर वैदिक रूप। यहाँ 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० ७।१।४१) के अनुसार तकारलोप हुआ है।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह तृतीयं संवत्सरम् अरण्ये चचार सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥ चरैवेति। इति

सायण भाष्य—भगः सौभाग्यमासीनस्योपविष्टस्याऽऽस्ते तथैव तिष्ठति न तु वर्धते। अभिवृद्धिहेतोरुद्योगस्याभावात्। तिष्ठति उपवेशनं परित्यज्यो-

त्थापनं कुर्वंतः पुरुषस्य भग ऊर्ध्वोऽभिवृद्धेरुन्मुखस्तिष्ठति । कृषिवाणिज्या-द्युद्योगस्य सम्भावितत्वात् । निषद्यमानस्य भूमौ शयानस्य भगः शेते निद्रां करोति । विद्यमानधनरक्षादिचिन्ताया अप्यभावात्सर्वथैव विनश्यति । चरत-स्तेषु तेषु देशेष्वर्जनार्थं पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य भगः सौभाग्यं चरति दिने-दिने वर्धते । तस्मात्त्वं चरैवेति न त्वेकत्र तिष्ठ ॥३॥

अन्वयार्थः—(वै) निश्चय ही (ब्राह्मणो) ब्राह्मण ने (मा) मुझ से (अवोचत्) कहा है (चरैवेति) चलते ही रहो (इति ह) ऐसा सोचकर (तृतीयं संवत्सरम्) तीसरे वर्ष भी (सः) वह (अरण्ये) वन में (चचार) चलता रहा। (सः) वह (अरण्यात्) वन से (ग्राममेयाय) गांव को चल दिया। [मार्ग में] (इन्द्रः) इन्द्र ने (पुरुषरूपेण) पुरुष रूप में (तम्) उससे (पर्येत्योवाच) आकर कहा कि—(आसीनस्य) एक स्थान पर बैठे हुए मनुष्य का (भगः) सौभाग्य (आस्ते) बैठा रहता है। (तिष्ठतः) उठकर बैठे हुए का [भाग्य] (ऊर्ध्वस्ति-ष्ठति) उठ बैठता है । (निपद्यमानस्य) सुप्त मनुष्य का [भाग्य] (शेते) सोता रहता है। (चरतः) सचरणशील व्यक्ति का (भगः) भाग्य (चराति) चलता ही रहता है। अतः (चरैवेति) चलते ही रहो। इसका आशय यह प्रतीत होता है कि मनुष्य का भाग्य उसके अपने हाथ में होता है जैसा और जितना कार्य मनु य करता है वैसा ही उसका भाग्य होता है। जो मनुष्य अकर्मण्य होकर आलस्य में सोया रहता है, उसका भाग्य भी मानो सोता है । परन्तु कार्यशील व्यक्ति का भाग्य उसे उचित फल देने को तत्पर रहता है।

चराति—√चर् लट् प्रथम पुरुष, एकवचन, चरति का वैदिक रूप।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह चतुर्थं संवत्सरमरण्ये चचार सोऽरण्याद् ग्राममेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्। चरैवेति इति।४।

सायण भाष्य—चतस्रः पुरुषस्यावस्थाः। निद्रा तत्परित्याग उत्थानं संचरणं चेति। ताश्चोत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात्कलिद्वापरत्रेताकृतयुगैः समानाः। ततश्चरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैवेति ॥४॥

अन्वयार्थः—(वै) निश्चय ही (ब्राह्मणो) ब्राह्मण ने (मा) मुझसे (अवोचत्) कहा है (चरैवेति) चलते ही रहो (इति ह) ऐसा सोचकर (चतुर्थं संवत्सरम्) चौथे वर्ष भी (सः) वह (अरण्ये) वन में (चचार) चलता रहा)। [जब] (सः) वह (अरण्यात्) वन से (ग्राममेयाय) गांव को चल दिया [तब मार्ग में] (इन्द्रः) इन्द्र ने (पुरुषरूपेण) पुरुष रूप में (तम्) उससे (पर्येत्योवाच) आकर कहा कि—

(शयानः) सोता हुआ (कलिः) कलियुग (भवति) होता है (तु) तो (संजिहानः) जागरूक (द्वापरः) द्वापरयुग [भवति-होता है] (उत्तिष्ठन्) उठ कर बैठता हुआ (त्रेता) त्रेतायुग (भवति) होता है, (चरन्) चलता हुआ (कृतम्) सत्ययुग (संपद्यते) होता है। अतः (चरैवेति) चलते ही रहो।

यहाँ चारों युगों को मनुष्य की विभिन्न अवस्थाओं के परिणाम के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। जो मनुष्य सोया रहता है, वह कलियुग जैसा फल प्राप्त करता है। आलस्य, असन्तोष, अशान्ति इस युग की प्रमुख विशेषताएँ है। किन्तु जो व्यक्ति निद्रा त्याग करके उठने को तैयार होता है अर्थात् कार्य में प्रवृत्त होने का विचार करता है, वह द्वापर जैसा फल प्राप्त करता है। द्वापर का अन्त महाभारत में हुआ था। इससे पता चलता है कि यद्यपि दूषित प्रवृत्तियां प्रबल हैं किन्तु अन्ततोगत्वा बहुत कुछ नाश होकर भी धर्म की विजय होती है। त्रेता का प्रतीक रामायण है। उठता हुआ अर्थात् कार्य में प्रवृत्ति आरम्भ करने वाला किन्तु पूर्ण न करने वाला भी त्रेता जैसा फल प्राप्त करता है। उसमें परस्पर स्नेह, धार्मिक भावना प्रबल होती है यद्यपि रावण वहाँ भी है। किन्तु चलने वाला तो सत्ययुग का ही फल प्राप्त कर लेता है। कृतयुग पूर्ण शान्ति का सर्वोत्कृष्ट युग है। इसमें पूर्ण धर्म का प्रचार होता है। सब मनुष्य अपना-अपना कार्य करते हुए केवल अपने कर्म के फल की आकांक्षा करते हैं।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह पञ्चम संवत्सरमरण्ये

चचार, सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्। सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्। चरैवेति इति।

सायण-भाष्य—चरन्नेव पुरुषः क्वचिद् वृक्षाग्रे मधुमाक्षिकं लभते। क्वचित्स्वादुमधुरमुदुम्बरादिफलविशेषं लभते। एतदुभयमुपलक्षणम्। तत्र तत्र विद्यमानं भोगविशेष लभते। तत्र सूर्यो दृष्टान्तः। यः सूर्यः सर्वत्र चरन्नपि न तन्द्रयते कदाचिदप्यलसो न भवति तस्य सूर्यस्य श्रेमाणं श्रेष्ठत्वं जगद्वन्द्यत्वं पश्य। तस्माच्चरैव ॥५॥

अन्वयार्थः—(वै) निश्चय ही (ब्राह्मणः) ब्राह्मण ने (मा) मुझसे (अवोचत्) कहा है कि (चरैवेति) चलते ही रहो (इति ह) यह सोचकर (पञ्चमं संवत्सरम्) पांचवें वर्ष भी (अरण्ये) वन में (चचार) चलता रहा (सः) वह (अरण्याद्) वन से (ग्राममेयाय) गांव की ओर चल दिया [मार्ग में] (इन्द्रः) इन्द्र ने (पुरुषरूपेण) पुरुषरूप में (तम्) उससे (पर्येत्योवाच) आकर कहा कि—(चरन्) संचरणशील व्यक्ति (वै) निश्चय ही (मधु) मधु (विन्दति) प्राप्त करता है। मधु जीवन के माधुर्य तथा सुख का प्रतीक है। मधु का हमारी संस्कृति में भी विशेष महत्त्व है। अतिथिसत्कार की शास्त्रोक्त विधि में मधुमिश्रित 'मधुपर्क' को प्रमुख स्थान प्राप्त है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मधु का महत्त्व कम नहीं है। सम्भवतः इसीलिये नवजात शिशु को मधु चटाया जाता है। (चरन्) चलता हुआ ही (स्वादु) स्वादिष्ठ (उदुम्बरम्) उदुम्बर फल [प्राप्त करता है) (सूर्यस्य) सूर्य के (श्रेमाणम्) श्रेष्ठत्व को (पश्य) देखो (यः) जो (चरन्) विचरण करता हुआ (न तन्द्रयते) आलस्य को प्राप्त नहीं होता है। यहां सतत गतिशील सूर्य की उपमा देकर कार्यशील रहने की उपयोगिता स्पष्ट की गई है। गतिशील सूर्य अनादि काल से इसी प्रकार देदीप्यमान है। उसमें कभी आलस्य नहीं आता है अतः (चरैवेति) चलते ही रहो। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति तेजोमय और स्फूर्ति से युक्त जीवन चाहता है तो उसे निरन्तर गतिशील रहना चाहिये, निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण १.८.१.-१.५

शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। इसमें १०० अध्याय हैं और सम्भवतः १०० अध्याय होने के कारण ही इस ब्राह्मण को शतपथ ब्राह्मण कहा जाता है। गणरत्न महोदधि में ऐसा ही अभिमत है—"शतं पन्थानो यत्र शतपथः तत्तुल्यः शतपथः"। इस ब्राह्मण में कुल चौदह काण्ड हैं। वेवर के मतानुसार शतपथ ब्राह्मण में १०० अध्याय ४३८ ब्राह्मण और ७६२४ कण्डिकाएं हैं। अन्य ब्राह्मणों के समान शतपथ का अधिक अंश बहुत पुराना है। इसके कुछ भाग शाण्डिल्य प्रोक्त माने जाते हैं, परन्तु समग्र ब्राह्मण का अन्तिम संकलन याज्ञवल्क्य ने किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। शतपथ के अन्त में कहा गया कि—'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेय-याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' अर्थात् आदित्यसम्बन्धी ये शुक्लयजुर्वेद वाजसनेय याज्ञवल्क्य प्रोक्त हैं। श० ब्रा० का आख्यान की दृष्टि से भी महत्त्व है। इसमें मनु तथा मत्स्यावतार की कथा वर्णित है। इसमें सृष्टिक्रम की परम्परा का वर्णन है। प्रलय और सृष्टि क्रम की लगभग ऐसी ही कथा बाइबिल में वर्णित है। श०ब्रा० १.८.१.१-५ में जल प्रलय की कथा मिलती है। प्रोफेसर विण्टर-नित्स इस आख्यान का उद्गम सेमेटिक परम्परा से मानते हैं। इस आख्यान में बताया गया है कि किस प्रकार मनु ने मानव जाति का पुनरुद्धार किया। पौराणिक मत्स्य अवतार की कथा का मूल भी यही कथा मानी जाती है। हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' का आधार भी यही ब्राह्मणकथा है। बहुत से विद्वान् इससे डार्विन के आधुनिक विकासवाद की भी तुलना करते हैं क्योंकि उसके अनुसार भी इस भूमण्डल पर आरम्भ में जलचर जीवों का प्रादुर्भाव हुआ।

मनवे ह वै प्रातर् अवनेग्यमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेज-नायाहरन्त्येवं तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणीऽआपेदे ॥१॥

सायण-भाष्यम्—मनवे ह वै प्रतरवनेग्यमुदकमाजहुः—यथेदं पाणिभ्याम-वनेजनायाहरन्ति एवम्। तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे ॥१॥

हरिस्वामिभाष्यम्—मनवे ह वै। इडाब्राह्मणमेतत्। ..त्रेडायां मानवीमिडां

देवतां वक्तुं मानवी "घृतपदी मैत्रावरुणी" इत्येतानि च निगदपदानि व्याख्यातुमितिहासः प्रवृत्तः। सः चेतिहासः प्रसन्न एव, किञ्चित् दर्शयामः। 'मनवे' वैवस्वताय, तादर्थ्ये चतुर्थी (पा० सू० २।३।१३।वा०१) अवनेज्यते हस्ताद्यनेनेत्यवनेग्यम्' करणे कृत्यः। (पा० सू० ३।४।७०) आजहुः आनीतवन्तः परिचारकाः। यथा इदम् अधुना 'पाणिभ्याम्' हस्तार्थं यदवनेजनं तस्मै 'आहरन्ति तथा आजहुः। तस्य मनोः प्रक्षालयतः 'मत्स्यः' 'पाणी' प्राप्तः। भाविनोऽर्थस्य सिद्धयर्थं देवतैव मत्स्यरूपेणाजगाम।

अन्वयार्थः—[वे] (प्रातः) प्रातःकाल हस्तादि प्रक्षालन निमित्त (मन्वे) मनु के लिए (अवनेग्यमुदकम्) हस्तादि प्रक्षालन निमित्त जल (आजहुः) लाये (यथेदम्) जैसे इसे [लोग] (पाणिभ्याम्) हाथों को (अवनेजनाय) धोने के लिए (आहरन्ति) अब भी लाते हैं (एवम्) इस प्रकार (अवनेनिजानस्य) आचमन करते हुए (तस्य) उस [मनु] के (पाणी) हाथों में (मत्स्यः) मछली (आपेदे) आ गई।

स हास्मै वाचमुवाद। बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघऽइमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति कथं ते भृतिरिति ॥२॥

सायण-भाष्यम्—स हास्मै वाचमुवाद-बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वाम् इति। कस्मान्मा पारयिष्यसि' इति। औघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मि' इति। कथं ते भृतिरिति।

हरिस्वामिभाष्यम्—स हास्मै। सः मत्स्यः अस्मै मनवे वाचम् उदितवान्। कीदृशीम्? बिभृहि पुषाण (पुष्णीहि) मा माम्। किमर्थम् पारयिष्यामि—पाल रक्षणे (चु० प० ५५) रक्षिष्यामि त्वा इति। कस्मात्? इति भयहेतुप्रश्नः (पा० सू० १।४।२५)। वहतीति औघः उदकसङ्घातः, स इमा भारतवर्षनिवासनीः प्रजा निःशेषं वोढा—देशान्तरं प्रापयिता तस्माद्भयहेतोस्त्वा पालयितास्मि इति मत्स्यवचः—कथम्? इति मनोः प्रश्नः—कथं तव भृतिः भरणम्—पुष्टिः इति ॥२॥

अन्वयार्थः—(सः) वह [मछली] (अस्मै) उस [मनु] से (वाचम्) ये

वचन (उवाद) बोली (मा बिभृहि) मेरा पालन करो (त्वा पारयिष्यामि) तुम्हारी रक्षा करूंगी। [मनु ने पूछा] (कस्मात्) किससे, (मा पारयिष्यासि) मेरी रक्षा करेगी, [मछली ने उत्तर दिया] [ओघः] जल की बाढ़ (इमाः) इन (सर्वाः) सब (प्रजा) प्राणियों को (निर्वोढा) बहा कर ले जायेगी (ततः) उससे (त्वा) तुम्हारी (पारयितास्मि) रक्षा करूंगी [मनु ने पूछा] (कथम्) किस प्रकार (ते) तुम्हारा (भृतिः) पालन करूं ?

स होवाच। यावद्वै क्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवत्युत मत्स्यऽएव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माग्रे बिभरासि स यदा तामतिवर्द्धाऽअथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि स यदा तामतिवर्द्धाऽअथ मा समुद्रमभ्यवहरासि तर्हि वाऽतिनाष्ट्रो भवितास्मीति ॥३॥

सायण-भाष्यम्—स होवाच—यावद् वै क्षुल्लका भवामः बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवति—उत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माग्रे बिभरासि। स यदा तामतिवर्द्धै अथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि। स यदा तामतिवर्द्धै, अथ मा समुद्रमभ्यवहरासि। तर्हि वा अतिनाष्ट्रो भवितास्मि इति ॥३॥

हरिस्वामि-भाष्यम्—स होवाच। क्षुल्लकाः क्षुद्रकाः अल्पकाः नाष्ट्राऽइति। गिलति, गृ निगरणे (तु० प० १२६) निगिरति। बिभरासि अध्येषणायां (पा० सू० ३।३।१६१) लिङर्थे लेट् (पा० सू० ३।४।७) बिभृयाः—पुष्णीयाः। एवमेव अभ्यवहरासि उपासासै आपद्यासै इति व्याख्येयानि। अतिवर्द्धै अतिरिच्य वर्द्धितास्मीति प्राप्ते यदायद्योर्लिङ उपसंख्यानम् (पा० सू० ३।३।१४७-वा०) ततश्च लिङर्थे लेट् (पा० सू० ३।४।७) इति यदायोगे लेट्। कर्षुः (निघ० ३।२३।६) खातिकाः। अतीतो नाष्ट्रान् नाशयितॄन् इति अतिनाष्ट्रः।३।

अन्वयार्थः—(सः) वह [मछली] (उवाच) बोली—(यावद्) जब तक (क्षुल्लकाः) छोटी (भवामः) हम रहती हैं (तावत्) तब तक (नः) हमारी (बह्वी) बहुत (नाष्ट्रा) क्षति (भवति) होती है। (उत) क्योंकि (मत्स्य) मछली (एव) ही (मत्स्यम्) मछली को (गिलति) निगल जाती है (माग्रे) पहले मेरा (कुम्भ्याम्)घड़े में (बिभरासि) पालन करना (यदा) जब (स तामतिवर्द्धै) वह मैं मछली उसमें अतिवृद्धि को प्राप्त करने लगूं (अथ) तब

(कर्षूं) तालाव (खात्वा) खोदकर (तस्याम्) उसमें (मा बिभरसि) मेरा पालन करना। (यदा) जब (स तामतिवर्द्धै) वह मैं मछली अतिवृद्धि को प्राप्त करने लगूँ (अथ) तब (मा) मुझे (समुद्रमभ्यवहरासि) समुद्र में डाल देना। (तर्हि) उस समय (अतिनाष्ट्रो) विनाश से ऊपर (भवितास्मि) मैं हो जाऊंगी।

शश्वद्ध झषऽआस। स हि ज्येष्ठं वर्द्धतेऽथेतिथीं समां तदौघऽआगन्ता तन्मा नावमुपकल्प्योपासासै। सऽऔघऽउत्थिते नावमापद्यासै ततस्त्वा पारयितास्मीति ॥४॥

सायण-भाष्यम्—शश्वद्ध झष आस, स हि ज्येष्ठं वर्द्धते अथ इतिथी समां तदौघ आगन्ता, तन्मा नावमुपकल्प्योपासासै, स औघ उत्थिते नावमापद्यासै, ततस्त्वा पारयितास्मि इति ॥४॥

हरिस्वामि-भाष्यम्—शश्वद्ध। शश्वच्छन्दोऽत्र सामर्थ्यात् क्षिप्रवचनः। झषः महामत्स्यः क्षिप्रमेव महामत्स्योऽत्रावर्त्ततेत्यर्थः। अथ कस्मात्स शीघ्रमेव महामत्स्यः संवृत्तः हि यस्मात् सः ज्येष्ठं बृहत्तमं वर्द्धते' सर्वे एव हि जलचरा अतिशयेन वर्द्धन्ते, स तु मत्स्यत्वादनाष्ट्रत्वाच्च वृहत्तमं वर्द्धत इति श्रुतिवचनम् अथेतिथीम् इति मत्स्यवचनम्—अयमपि समुद्रमभ्यवहृते इतिथीम् इत्यभिनयः, तेन सङ्ख्येयां समां दर्शितवान्, इयत्तीनां दशानां द्वादशानां वा पूरणी-इतिथी-इदम् इदादेशश्छान्दसः (पा० सू० ५।३।३) टित्त्वात् ङीप् (पा० सू० ४।१। १५) इयत्यस्तिथयो यस्यां सा इतिथीति केषुचित्कोषेषु तेष्वपि इयतिथीम् यावतिथीं तावतिथीमिति प्राप्ते छान्दसो यशब्दलोपः समा संवत्सरः ताम् समाम् समायामित्यर्थः। तत् स इति लिङ्गव्यत्ययः स पूर्वोक्तः औघः आगन्ता तद् तदा नावम् उपकल्प्य माम् उपासासै उपासीथाः। औघे चोत्थिते तां नावम् त्वम् आपद्यासै आरोहेरित्यर्थः ॥४॥

अन्वयार्थः—(शश्वद्) शीघ्र ही [मछली] (झष) महामत्स्य (आस) बन गई (हि) क्योंकि (सः) वह [अन्य जलचरों से] (ज्येष्ठम्) सर्वाधिक (वर्धते) बढ़ती है। [महामत्स्य ने कहा] [अथेतिथीम्) अमुक तिथि संवत्सर को (तत्) वह (औघः) जल की बाढ़ (आगम्ता) आएगी। (तत्) तब

(नावम्) नाव को (उपकल्प्य) तैयार कर (माम्) मेरी (उपासासै) उपासना करना (सः) वह (औघ) जल की बाढ़ (उत्थिते) आने पर (नावम्) नाव पर (आपद्यासै) चढ़ जाना (ततः) तब [मैं] (त्वा) तुम्हें (पारयितास्मि) बचाऊंगी ॥४॥

तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार । स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपासाञ्चक्रे सऽऔघ उत्थिते नावमापेदे तं स मत्स्यऽउपन्या पुप्लुवे तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव ॥

सायणभाष्यम्—तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार । स यतिथीं तत्समां परिदिदेश—ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपासाञ्चक्रे । स औघ उत्थिते नावमापेदे । तं स मत्स्य उपन्या पुप्लुवे । तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच । तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव ॥५॥

हरिस्वामि-भाष्यम्—तमेवं भृत्वा । यावतीनां पूरणीं यतिथीं परिदिदेश परिदिष्टवान् आख्यातवान्, ततिथीं तावतीनां पूरणीं समाम् नावमुपकल्प्य मत्स्यमुपासितवान् । औघे च उत्थिते नावम् अधिरूढः तं च मनुं स मत्स्यः उप समीपे नीचैः एनमुपकर्ष्यमिति सम्बन्धः आपुप्लुवे आगतः । तस्य मत्स्यस्य शृङ्गे भवितव्यतयैव निष्पादिते नावः पाशं प्रतिबद्धवान् । तेन पाशेन सह मत्स्यः एतम् उत्तरं गिरिम् हिमवन्तमधिजगाम ॥५॥

अन्वयार्थः—(एवम्) इस प्रकार [मनु ने] (भृत्वा) पालन पोषण कर (तम्) उसको (समुद्रम्) समुद्र में (अभ्यवजहार) डाल दिया । (सः) उस [मछली] ने (यतिथीम्) जिस वर्ष के लिए (परिदिदेश) कहा था (ततिथीम् समाम्) उस तिथि संवत्सर को (नावम्) नाव (उपकल्प्य) तैयार कर [मछली की (उपासाञ्चक्रे) उपासना की । (औघः) जल की बाढ़ (उत्थिते) आने पर (सः) वह [मनु] (नावम्) नाव पर (आपेदे) चढ़ गया (सः मत्स्यः) वह मछली (उपन्यापुप्लुवे) उस तक तैर आई । [मनु ने] (तस्य) उस [मछली] के शृङ्गे) सींग में (नावः) नाव का (पाशम्) लंगर (प्रतिमुमोच) बांध दिया—(तेन) उस [लंगर की सहायता] से [मछली] (एतम्) उस [मनु] को [उत्तरं गिरिम्) उत्तरगिरि की ओर (अतिदुद्राव) शीघ्र ही ले गयी ।

तैत्तिरीयोपनिषद्-अनुवाक ९।११

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यक का अंग है। तैत्तिरीय आरण्यक में दस अध्याय हैं। उनमें से सातवें आठवें और नवे अध्यायों को तैत्तिरीयोपनिषद् कहा जाता है। इस उपनिषद् के तीन विभाजन शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली हैं, जिन्हें अध्याय कहा जा सकता है। प्रत्येक वल्ली में कई अनुवाक हैं जिन्हें प्रकरण कह सकते हैं।

शिक्षा-वल्ली में मनुष्य को अपने जीवन निर्माण के लिये ऐसी शिक्षाएं दी गई हैं जिनसे वह लोक और परलोक के सर्वोत्तम फल प्राप्त कर ब्रह्मविद्या को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है।

सर्वप्रथम तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में बताया गया है कि मनुष्य को वैसे तो प्रत्येक शब्द के उच्चारण में सावधानी बरतते हुए शुद्ध बोलने का अभ्यास करना चाहिए, परन्तु यदि लौकिक नियमों का पालन नहीं भी किया जा सके तो कम से कम वेदमन्त्रों का उच्चारण तो अवश्य ही शिक्षा के नियमानुसार होना चाहिए। तत्पश्चात् आचार्य अपने और शिष्य के अभ्युदय की इच्छा प्रकट करते हुए संहिताविषयक उपासनाविधि का वर्णन करते हैं। तदनन्तर इस लोक और परलोक की उन्नति का उपाय, परमात्मा की प्रार्थना तथा उसके साथ हवन का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् भूः, भुवः, स्वः और महः इन चारों व्याहृतियों की उपासना का रहस्य बताकर उसके फल का वर्णन किया गया है। ओंकार की महिमा का वर्णन भी इस उपनिषद् में हैं। ओंकार परब्रह्म परमात्मा का नाम होने से साक्षात् ब्रह्म ही है। नवम अनुवाक में कहा गया है कि मनुष्य के लिए अध्ययन और अध्यापन दोनों बहुत ही आवश्यक हैं। शास्त्रों के अध्ययन से ही मनुष्य को अपने कर्तव्य का तथा उसकी विधि और फल का ज्ञान होता है। अतः इसे करते हुए ही इसके साथ-साथ यथायोग्य सदाचार का पालन, सत्य भाषण, इन्द्रियों को वश में रखना, स्वधर्म पालन के लिए बड़े से बड़ा कष्ट सहना इत्यादि इन सभी श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिए।

एकादश अनुवाक में शिष्य को वेद का स्वाध्याय कराने के अनन्तर आचार्य सत्यभाषण एवं धर्माचरणादि का उपदेश करता है तथा समावर्तन संस्कार के लिए आदेश देते हुए उसे गृहस्थोचित कर्मों की भी शिक्षा देता है। वहाँ यह बतलाया गया है कि देवकर्म, पितृकर्म तथा अतिथिपूजन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। सदाचार की रक्षा के लिए गुरुजनों के प्रति श्रद्धा रखते हुए उन्हीं के आचरणों का अनुकरण करना चाहिये किन्तु वह अनुकरण केवल उनके सुकृतों का हो, दुष्कृतों का नहीं।

तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली अनुवाक ९

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च (सत्यं च स्वाध्यायं च स्वाध्याय-प्रवचने च) सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।

शाङ्कर-भाष्यम्—ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्त्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थम्। स्वाध्यायोऽध्ययनम्। प्रवचनमध्यापनं ब्रह्मयज्ञो वा। एतान्यृतादीन्यनुष्ठेयानीति वाक्यशेषः। सत्यं च वाक्कायाभ्यां संपाद्यमानं सत्यवचनम्। तपः कृच्छ्रादि। दमो बाह्यकरणोपशमः। शमोऽन्तःकरणोपशमः। अग्नय आधातव्याः। अग्निहोत्रं च होतव्यम्। अतिथयश्च पूज्याः। मानुषमिति लौकिकः सव्यवहारः तच्च यथा प्राप्तमनुष्ठेयम्। प्रजा चोत्पाद्या। प्रजनश्च प्रजननमृतौ भार्यागमनमित्यर्थः। प्रजातिः पौत्रोत्पत्तिः पुत्रो निवेशयितव्य इत्येतत्।

सर्वैरेतैः कर्मभिर्युक्तस्यापिस्वाध्यायप्रवचने यत्नतोऽनुष्ठेये इत्येवमर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम् स्वध्यायाधीनं ह्यर्थज्ञानमू, अर्थज्ञानायत्तं च

परं श्रेयः प्रवचनं च तदविस्मरणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थं च। अतः स्वाध्यायप्रवचनयोरादरः कार्यः।

सत्यमिति सत्यमेवानुष्ठातव्यमिति सत्यमेव वचो यस्य सोऽयं सत्यवचा नाम वा तस्य। राथीतरो रथीतरस्य गोत्रो राथीतराचार्यो मन्यते। तप इति तप एव कर्त्तव्यमिति तपोनित्यस्तपसि नित्यस्तपःपरस्तपोनित्य इति वा नाम पौरुशिष्टिः पुरुशिष्टस्यापत्यं पौरुशिष्टिराचार्यो मन्यते स्वाध्यायप्रवचने एवानुष्ठेये इति नाको नामतो मुद्गलस्यापत्यं मौद्गल्य आचार्यो मन्यते। तद्धि तपस्तद्धि तपः। हि यस्मात्स्वाध्यायप्रवचने एव तपस्तस्मात्ते एवानुष्ठेये इति उक्तानामपि सत्यतपःस्वाध्यायप्रवचनानां पुनर्ग्रहणमादरार्थम् ॥

अन्वयार्थः—(ऋतम्) शास्त्रानुसार करने योग्य बुद्धि में निश्चय किया हुआ अर्थ (च) और (स्वाध्यायप्रवचने च) अध्ययन और अध्यापन [अनुष्ठान किए जाने योग्य हैं]। (सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च] सत्यभाषण और अध्ययन अध्यापन [अनुष्ठान किये जाने चाहियें]। (तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च) तप और स्वाध्याय और प्रवचन [सदैव कर्तव्य हैं]। (दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च) इन्द्रियों का दमन, और अध्ययन और अध्यापन [सदैव करता रहे]। (शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च) मन का निग्रह और स्वाध्याय तथा प्रवचन [सर्वदा कर्तव्य हैं]। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च) अग्न्याधान तथा अध्ययन और अध्यापन [साथ-साथ करना चाहिये] (अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च) अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय और प्रवचन [नित्य कर्तव्य हैं]। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च) अतिथियों की सेवा तथा अध्ययन और अध्यापन [इनका नित्य अनुष्ठान करे]। (मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च) विवाहादि लौकिक व्यवहार तथा अध्ययन और अध्यापन [नित्य करता रहे]। (प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च) गर्भाधान संस्काररूप कर्म तथा अध्ययन और अध्यापन [ये सदा ही कर्तव्य हैं]। (प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च) ऋतुकाल में भार्यागमन तथा स्वाध्याय और प्रवचन [करता रहे]। (प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च) पौत्रोत्पत्ति तथा अध्ययन और अध्यापन [इनका नियतरूप से अनुष्ठान करे]। (सत्यमिति) सत्य ही [अनुष्ठान करने योग्य है] (राथीतरः) रथीतर का पुत्र

(सत्यवचाः) सत्यवचा ऋषि मानता है। (तपः) तप ही [सर्वश्रेष्ठ है] (इति) ऐसा (पौरुशिष्टि) पुरुशिष्ट का पुत्र (तपोनित्यः) तपोनित्य ऋषि कहता है। (स्वाध्यायप्रवचने एव) अध्ययन और अध्यापन ही [श्रेष्ठ है] (इति) ऐसा (मौद्गल्य) मुद्गल के पुत्र (नाकः) नाक मुनि कहते हैं। (हि) क्योंकि (तत्) वही (तपः) तप है (तद् हि) वही (तपः) तप है।

व्याख्या :—ओंकारोपासना के पश्चात् ऋषि कर्मयोग धर्म का उपदेश देता है। इस अनुवाक में यह बात समझाई गई कि अध्ययन और अध्यापन करने वालों को अध्ययन अध्यापन के साथ-साथ शास्त्रों में बताए हुए मार्ग पर स्वयं चलना भी चाहिये। अभिप्राय यह है कि अध्ययन और अध्यापन दोनों बहुत उपयोगी हैं। शास्त्रों के अध्ययन से ही मनुष्य को अपने कर्त्तव्य तथा उसकी विधि और फल का ज्ञान होता है। अतः इसे करते हुए ही उसके साथ-साथ यथायोग्य सत्यभाषण, स्वधर्म के लिए कष्ट सहना, इन्द्रियों को वश में रखना, मन को वश में रखना, अग्निहोत्र के लिये अग्नि को प्रदीप्त करना, अतिथि सत्कार करना, सबके साथ मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना, शास्त्रविधि के अनुसार गर्भाधान करना, और ऋतुकाल में नियमित रूप से पत्नी सहवास करना तथा कुटुम्ब को बढ़ाने का उपाय करना, इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिये। रथीतर के पुत्र सत्यवचा नामक ऋषि का कथन है कि इन सभी कर्मों में सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि प्रत्येक कर्म सत्यभाषण और सत्यभावपूर्वक किये जाने पर ही यथार्थरूप से सम्पन्न होता है। पुरुशिष्टपुत्र तपोनित्य नामक ऋषि का कथन है कि तपश्चर्या ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि तप से ही सत्यभाषण आदि समस्त धर्मों के पालन करने की और उनमें दृढ़तापूर्वक स्थित रहने की शक्ति आती है। मुद्गल के पुत्र नाक नामक ऋषि का कथन है कि वेद और शास्त्रों का पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि वही तप है। अर्थात् इन्हीं से तप आदि समस्त धर्मों का ज्ञान होता है। इन सभी ऋषियों का कहना यथार्थ है। उनके कथन को उद्धृत करके यह भाव दिखाया गया है कि प्रत्येक कर्म में इन तीनों की प्रधानता रहनी चाहिये। जो कुछ कर्म किया जाये वह पठन-पाठन से उपलब्ध शास्त्रज्ञान के अनुकूल होना चाहिये। कितने ही विघ्न क्यों न उप-

स्थित हों अपने कर्तव्य पालनरूप तप में सदा दृढ़ रहना चाहिये और प्रत्येक क्रिया में सत्यभाषण पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

उपनिषद् के इस उपदेश में भारतीय संस्कृति की समन्वय की प्रकृति स्पष्ट दिखाई देती है। जीवन की पूर्णता के लिये जीवन का सर्वांगीण विकास अत्यन्त आवश्यक है। केवल एक पक्ष लेकर चलना, चाहे वह पक्ष कितना ही उत्कृष्ट क्यों न हो, कदापि मनुष्य-जीवन की पूर्णता में उपकारक नहीं हो सकता। सब कृत्यों का समन्वय गृहस्थ के लिये आवश्यक है। हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्यों के जीवन में विकृतियाँ और असङ्गतियाँ इन सभी पक्षों के सम्यक् सन्तुलन के अभाव में होती हैं। अतः उपनिषद् का यह उपदेश आज के मानव के जीवन को उचित मार्ग पर चलाने के लिये भी पूर्ण सार्थक है।

अनुवाक ११

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥

शाङ्करभाष्य—वेदमनूच्याध्याप्याचार्योऽन्तेवासिनं शिष्यमनुशास्ति ग्रन्थग्रहणादनु पश्चाच्छास्ति तदर्थं ग्राहयतीत्यर्थः। अतोऽवगम्यतेऽधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यमिति। "बुद्ध्वा कर्माणि चारभेत्" इति स्मृतेश्च। कथमनुशास्तीत्याह—सत्यं वद यथाप्रमाणावगत वक्तव्यं तद्वद। तद्वद्धर्मं चर। धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनं सत्यादिविशेषनिर्देशात्। स्वाध्यायादध्ययनान्मा प्रमदः प्रमादं मा कार्षीः। आचार्यायाचार्यार्थं प्रियमिष्टं धनमाहृत्यानीय दत्त्वा विद्यानिष्क्रयार्थम् आचार्येण चानुज्ञातोऽनुरूपान्दारानाहृत्य प्रजातन्तुं प्रजासन्तानं मा व्यवच्छेत्सीः। प्रजासन्ततेर्विच्छित्तिर्न कर्त्तव्या। अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः। प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देशसामर्थ्यात्। अन्यथा प्रजनश्चेत्येतदेकमेवावक्ष्यत्।

सत्यान्न प्रमदितव्यं प्रमादो न कर्तव्यः। सत्याच्च प्रमदनमनृतप्रसङ्गः, प्रमादशब्दसामर्थ्यात्। विस्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्यमित्यर्थः। अन्यथा सत्यवदनप्रतिषेध एव स्यात्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। धर्मशब्दस्यानुष्ठेयविषयत्वादननुष्ठानं प्रमदः स न कर्तव्यः। अनुष्ठातव्य एव धर्म इति यावत्। एवं कुशलादात्मरक्षार्थात्कर्मणो न प्रमदितव्यम्। भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यै भूत्यर्थान्मङ्गलयुक्तात्कर्मणो न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्य न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायोऽध्ययनं प्रवचनमध्यापनं ताभ्यां न प्रमदितव्यम्। ते हि नियमेन कर्तव्ये इत्यर्थः ॥१॥

अन्वयार्थः—(वेदमनूच्य) वेद का भली-भांति अध्ययन कराकर (आचार्यः) (अन्तेवासिनम्) शिष्य को (अनुशास्ति) उपदेश देता है। (सत्यं वद) सत्य बोलो (धर्मं चर) धर्म का आचरण करो। (स्वाध्यायात्) स्वाध्याय से (मा प्रमदः) प्रमाद मत करो। (आचार्याय) आचार्य के लिये (प्रियं धनम्) वाञ्छित धन (आहृत्य) लाकर [उनकी आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके] (प्रजातन्तुम्) सन्तान-परम्परा का (मा व्यवच्छेत्सीः) छेदन मत करो (सत्यात्) सत्य से (न प्रमदितव्यम्) प्रमाद नहीं करना चाहिये (धर्मात्) धर्म से (न प्रमदितव्यम्) प्रमाद नहीं करना चाहिये (कुशलात्) आत्मरक्षा में उपयोगी कर्मों से (न प्रमदितव्यम्) प्रमाद नहीं करना चाहिये (भूत्यै) ऐश्वर्य देने वाले माङ्गलिक कर्मों से (न प्रमदितव्यम्) प्रमाद नहीं करना चाहिए (स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम्) अध्ययन और अध्यापन से (न प्रमदितव्यम्) प्रमाद नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—गृहस्थ को अपना जीवन कैसा बनाना चाहिये यह बात समझाने के लिये इस अनुवाक का आरम्भ कि ा गया है। आचार्य शिष्य को वेद का भली-भाँति अध्ययन कराकर समावर्तन संस्कार के समय गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके गृहस्थ धर्म का पालन करने की शिक्षा देते हैं—तुम सदैव सत्यभाषण करना, आपत्ति पड़ने पर भी झूठ का कदापि आश्रय न लेना, अपने वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्र-सम्मत धर्म का अनुष्ठान करना, अध्ययन से प्रमाद न करना अर्थात् आलस्य वश उनका कभी भी त्याग न करना।

गुरु के लिये दक्षिणा रूप में उनकी रुचि के अनुरूप धन लाकर देना तथा उनकी आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके स्वधर्म का पालन करते हुए संतान परम्परा को सुरक्षित रखना। सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिये अर्थात् कभी भूलकर भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार धर्मपालन में भी भूल नहीं करनी चाहिये। आत्मरक्षा में उपयोगी कुशल कर्मों में भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। वैभव के लिये होने वाले माङ्गलिक कर्मों से भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इसके लिये भी वर्णाश्रमानुकूल चेष्टा करनी चाहिये। पढ़ने और पढाने का जो मुख्य नियम है, उसका भी कभी आलस्यपूर्वक त्याग नहीं करना चाहिये।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि ॥२॥

शाङ्कर भाष्य—तथा देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। दैवपित्र्ये कर्मणी कर्तव्ये। मातृदेवो माता देवो यस्य स त्वं मातृदेवो भव स्याः। एवं पितृदेव आचार्यदेवोऽतिथिदेवो भव। देवतावदुपास्या एत इत्यर्थः। यान्यपि यान्यनवद्यान्यनिन्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि कर्तव्यानि त्वया। नो न वर्तव्यानीतराणि सावद्यानि शिष्टकृतान्यपि। यान्यस्माकमाचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितान्याम्नायाद्यविरुद्धानि तान्येव त्वयोपास्यान्यदृष्टार्थान्यनुष्ठेयानि, नियमेन कर्तव्यानीति यावत् ॥२॥

अन्वयार्थः—(देवपितृकार्याभ्याम्) देव और पितृ सम्बन्धी कर्मों से (न प्रमदितव्यम्) प्रमाद नहीं करना चाहिये। (मातृदेवो भव) माता की देव रूप में उपासना करो। (पितृदेवो भव) पिता की देवरूप में उपासना करो। (आचार्यदेवः भव) आचार्य की देवरूप में उपासना करो (अतिथिदेवः भव) अतिथि की देवरूप में उपासना करो। (यानि) जो (अनवद्यानि) निर्दोष (कर्माणि) कर्म हैं (तानि) उनका ही (सेवितव्यानि) सेवन करना चाहिये। न (इतराणि) दूसरे [दोषयुक्त कर्मों] का (नो) नहीं।

(यानि) जो (अस्माकम्) हमारे भी (सुचरितानि) अच्छे आचरण हैं (तानि) उनकी ही (त्वया) तुम्हें (उपास्यानि) उपासना करनी चाहिये।

व्याख्या—इसी प्रकार अग्निहोत्र और यज्ञादि के अनुष्ठान रूप देवकार्य तथा श्राद्ध तर्पण आदि पितृकार्य के सम्पादन में भी आलस्य या अवहेलना-पूर्वक प्रमाद नहीं करना चाहिये। माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि को देवरूप में उपासना करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि इन चारों को ईश्वर की प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक इनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये तथा इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहार से प्रसन्न रखना चाहिये। संसार में जितने भी निर्दोष कर्म हैं, उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिये। उनसे भिन्न जो दोषयुक्त कर्म हैं उनका स्वप्न में भी सेवन नहीं करना चाहिये इसके अतिरिक्त हमें आचार्य लोगों के भी जो शुभ चरित अर्थात् शास्त्र से अविरुद्ध कर्म हैं उन्हीं का अनुष्ठान करना चाहिये अर्थात् तेरे लिये वे ही नियम से कर्तव्य हैं।

नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥३॥

शाङ्कर भाष्य—नो इतराणि विपरीतान्याचार्यकृतान्यपि। ये के च विशेषिता आचार्यत्वादिधर्मैरस्मदस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा न क्षत्रियादयस्तेषामासनेनासनदानादिना त्वया प्रश्वसितव्यम्। प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयः। तेषां श्रमस्त्वयापनेतव्य इत्यर्थः। तेषां चासने गोष्ठीनिमित्ते समुदिते तेषु न प्रश्वसितव्यं प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः। केवलं तदुक्तसार-ग्राहिणा भवितव्यम्। किं च यत्किञ्चिद्देयं तच्छ्रद्धयैव दातव्यम्। अश्रद्धया अदेयं न दातव्यम्। श्रिया विभूत्या देयं दातव्यम्। ह्रिया लज्जया च देयम्। भिया भीत्या च देयम्। संविदा च मैत्र्यादिकार्येण देयम्। अथैवं वर्तमानस्य यदि कदाचित्ते तव श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि वृत्ते वाचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात् ॥३॥

अन्वयार्थः—(इतराणि) दूसरे [कर्मों] का (न) कभी नहीं। (ये) जो (के) कोई (च) भी (अस्मत) हमसे (श्रेयांसः) श्रेष्ठ (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण हैं (तेषाम्) उनका (त्वया) तुम्हें (आसनेन) आसन से [आसनादि के द्वारा सेवा-सत्कार कर] (प्रश्वसितव्यम्) श्रम करना चाहिये। (श्रद्धया) श्रद्धापूर्वक (देयम्) देना चाहिये। (अश्रद्धया) बिना श्रद्धा से (अदेयम्) नहीं देना चाहिये (ह्रिया) लज्जापूर्वक (देयम्) देना चाहिये (भिया) भयपूर्वक (देयम्) देना चाहिये। (संविदा) मित्रता आदि के उद्देश्य से (देयम्) देना चाहिये। (अथ) इस प्रकार (यदि) (ते) तुम्हें (कर्मविचिकित्सा) श्रौत या स्मार्त कर्म में संशय (वा) अथवा (वृत्तविचिकित्सा) आचरणरूप व्यवहार में संशय (वा) कदाचित् (स्यात्) हो जाये।

व्याख्याः—जो कोई भी आचार्यत्व आदि धर्मों के कारण विशिष्ट हैं अर्थात् हमसे श्रेष्ठ हैं तथा ब्राह्मण भी हैं उनका आसनादि के द्वारा श्रम निवृत्त करना चाहिये। अर्थात् अपने गुरु से इतर मान्य विद्वानों का आदरसत्कार करना चाहिये। विद्वत्ता के क्षेत्र में संकीर्णता नहीं होनी चाहिये। विद्वान् के प्रति अपने पराये का भेद नहीं होता। अपनी शक्ति के अनुसार दान करने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। जो कुछ भी दिया जाये, वह श्रद्धापूर्वक, देना चाहिये, अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये क्योंकि बिना श्रद्धा के किये हुये दान आदि कर्म असत् माने गये हैं गीता (१७।२७) में कहा गया है— अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ संकोच का अनुभव करते हुए ही दान देना चाहिये कि मैं जो कुछ दे रहा हूँ वह बहुत कम है। भयपूर्वक दान देना चाहिये। दान न देने से भावी जन्म में बुरा फल मिलेगा, इस जन्म में भी दानहीन व्यक्ति समाज में सम्मानित नहीं होता, इस भय से भी दान देना चाहिये। संविद् यानि मैत्री आदि कार्य के निमित्त से देना चाहिये। इस प्रकार यहाँ सभी रूपों में दान की प्रेरणा दी गई। यदि कोई निःस्वार्थ भाव से दान नहीं देना चाहता तो स्वार्थपूर्वक ही दान दे। इस प्रकार व्यवहार करते हुए किसी समय किसी श्रौत या स्मार्त कर्म अथवा आचरणरूप व्यवहार में संशय उपस्थित हो।

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु।

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥

शाङ्कर भाष्य :—ये तत्र तस्मिन् देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मादौ इति व्यवहितेन संबन्धः कर्तव्यः । संमर्शिनो विचारक्षमाः । युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा आयुक्ता अपरप्रयुक्ताः । अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतयः धर्मकामा अदृष्टार्थिनोऽकामहता इत्येतत्, स्युर्भवेयुः । ते यथा येन प्रकारेण ब्राह्मणास्तत्र तस्मिन्कर्मणि वृत्ते वा वर्तेरंस्तथा त्वमपि वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु अभ्याख्याता अभ्युक्ता दोषेण संदिह्यमानेन संयोजिताः केनचित्तेषु च यथोक्तं सर्वमुपनयेथै तत्रेत्यादि । एष आदेशो विधिः । एष उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादीनाम् । एषा वेदोपनिषद्वेदरहस्यं वेदार्थ इत्येतत् । एतदेवानुशासनमीश्वरवचनम् । आदेशवाक्यस्य विधेरुक्तत्वात्सर्वेषां वा प्रमाणभूतानामनुशासनमेतत् । यस्मादेवं तस्मादेवं यथोक्तं सर्वमुपासितव्यं कर्तव्यम् । एवमु चैतदुपास्यमुपास्यमेव चैतन्नानुपास्यमित्यादरार्थं पुनर्वचनम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ (ये) जो (समर्दशिनः) विचारशील (युक्ताः आचरण में पूर्णरूपेण तत्पर (आयुक्ताः) स्वतन्त्र (अलूक्षाः) जो रूखे नहीं हैं, स्निग्ध स्वभाव वाले (धर्मकामाः) धर्म के अभिलाषी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (स्युः) हों (ते) वे (यथा) जिस प्रकार (तत्र) वहाँ [उस कर्म या आचरण के विषय में] (वर्तेरन्) व्यवहार करें । (तत्र) वहाँ [उन कर्मों या आचरणों के विषय में] (तथा) वैसा ही (वर्तेथाः) व्यवहार करो । (अथ) इसी प्रकार (अभ्याख्यातेषु) संशययुक्त दोष से आरोपित जनों के प्रति (ये) जो (तत्र) वहाँ (सम्मर्शिनः) विचारशील (युक्ताः) आचरण में पूर्णरूपेण तत्पर (आयुक्ताः) स्वतन्त्र (अलूक्षाः) स्निग्ध स्वभाव वाले (धर्मकामाः) धर्म के अभिलाषी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (स्युः) हों (ते) वे (यथा) जिस प्रकार (तेषु) उनके साथ (वर्तेरन्) व्यवहार करें (तेषु) उनके साथ (तथा) वैसा ही (वर्तेथाः) व्यवहार करना चाहिये (एषः) यह आदेशः आदेश है (एषः) यह (उपदेशः) उपदेश है (एषा) यह (वेदोपनिषत्) वेद का

रहस्य है (एतद्) यह (अनुशासनम्) ईश्वरीय वचन है (एवम्) इस प्रकार (उपासितव्यम्) उपासना करनी चाहिये (च) और (एवम्) इस प्रकार (एतद्) यह (उपास्यम्) उपासना के योग्य है।

व्याख्या—यह सब करते हुए यदि तुमको किसी अवसर पर अपना कर्तव्य निश्चित करने में दुविधा उत्पन्न हो तो ऐसी स्थिति में वहाँ उत्तम विचार रखने वाले, उचित परामर्श देने में कुशल, सदाचार में लगे हुए, सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करने वाले तथा एकमात्र धर्मपालन की ही इच्छा करने वाले ब्राह्मण अर्थात् विद्वान् जिस प्रकार का आचरण करते हों, उसी प्रकार का आचरण तुम्हें भी करना चाहिये। ऐसे स्थलों में उन्हीं के सत्परामर्श के अनुसार उन्हीं के स्थापित आदर्श का अनुगमन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य किसी दोष के कारण लाञ्छित हो गया हो, उसके साथ किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषय में भी यदि दुविधा हो तो वहाँ जो भी विचारशील, परामर्श देने में कुशल, सदाचार में पूर्णतया सलग्न, धर्मकामी विद्वान् ब्राह्मण जिस प्रकार का व्यवहार उनके साथ करें, वैसा व्यवहार ही तुमको भी करना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों का व्यवहार पूर्णतया स्वार्थरहित तथा निष्पक्ष होता है। वही व्यवहार अनुसरणीय है। ऐसे दुविधा के अवसरों पर इन महापुरुषों के व्यवहार से अच्छा मार्गदर्शक और कोई ग्रन्थ या व्यक्ति नहीं हो सकता क्योकि इन निर्लिप्त महापुरुषों के मन में सकल समाज के अभ्युदय की कामना होती है। यही शास्त्रों का निचोड़ है। यही गुरु एवं माता-पिता का अपने शिष्य एवं संतानों के प्रति उपदेश है। तथा यही सम्पूर्ण वेदों का रहस्य है। इतना ही नहीं, ईश्वरीय वचन भी यही है। इसलिए तुमको इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचार का पालन करना चाहिये।

—:०:—

वृद्धि-शुद्धिपत्रम्

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	६	ज्ञान की	ज्ञान से अनन्त ज्ञान की
६	१३	अज्ञान	अज्ञात
७	२	जानता है	जानता है वह भ्रम में है, वह कुछ नहीं जानता
११	७	यज्ञ	यक्ष
१८	६	अतः	अतः श्रोत्रस्य श्रोत्र०
,,	२४	त्यापानं	त्यपानं
१९	६	कर्मणाम्	कर्मणा न
२३	९	चक्षु आदि ... आत्मा है	हटाइये
२७	१७	प्रत्यव	प्रत्यक्
२८	२६	(यत्)	(यत्) जिस
३३	१	जानते हैं	जानते हो
३६	२४	लभ्यात्	लम्भात्
,,	,,	बुद्ध्याद्युतिपाधेश्च	बुद्ध्याद्युपाधेश्च
३७	७	वास्तव	वास्तव में
३८	६	सर्वे बौद्धाः	बोधशब्देन बौद्धाः
,,	१२	विशुद्धस्वरूपतानित्यत्वं	हटाइये
,,	१४	आत्मतत्त्वेन	हटाइये
३९	३	(है)	(हि)
४१	१७	सर्वथा	सर्वथा विलक्षण
,,	२४	ज्ञान	ज्ञात
४३	४	वरं	परं
४५	२०	अग्र	अग्रगामिनं
४६	२८	षानग्नि	वानग्नि
५९	१५	भाग्यः	भाग्यैः
,,	१९	प्रथमम्	प्रथमाः प्रधानाः
६०	११	ह्यनेमिन्ने	०ह्यनन्ने०
६२	१७	उपाधिकत्वाद्वि	उपाधिकत्वाद्धि

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
६३	५	नहीं है	नहीं है अपितु
२-३		पृ० २ की अन्तिम दो पक्तियों को और पृ० ३ की प्रथम दो पंक्तियों को पृ० १ की पाद टिप्पणी में रखें	
१०		पृ० १० के अन्त में जोड़िये—उस यक्ष को पहचान न पाया। इस रूप में यक्ष आत्मा का ही वाचक है।	
२३		पृ० २३ की तीसरी पंक्ति के बाद जोड़िये—इसी प्रकार वाणी की गति भी वहाँ तक नहीं होती है।	
३५		की अन्तिम पंक्ति के 'कहा जा सकता है' के बाद जोड़िये—कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ	
३७	३	'जानता है' के बाद जोड़िये विजानताम्	
,,	१३	अर्थात् के बाद जोड़िये—इन्द्रियग्राह्य भौतिक पदार्थों के रूप में	
४४	२६	वस्तुतः के बाद जोड़िये—परब्रह्म की थी, देवता तो केवल निमित्त मात्र थे किन्तु देवताओं ने इस ओर ध्यान नहीं दिया अतः वे	
५६	५	'अनेक नाम हैं' के बाद जोड़िये—उमा शिव की ही शक्ति है माया के प्रभाव से	